आँखों देखी कहानियाँ

लेखक

श्री रामनरेश त्रिपाठी

संवत् २०१०

प्रकाशक

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग

प्रथम संस्करण नवंबर १९५३

मूल्य—एक रुपया आठ आना

मुद्रक—
महावीर प्रसाद
प्रेम प्रेस, कटरा, प्रयाग ।

सूची

कहानियों का जन्म और विकास

कहानी का अर्थ है, जो कही जाय। मनुष्य ने कब कहना शुरू किया और उसकी मूल भाषा क्या थी? यह अब कल्पनातीत है।

भारत के प्राचीन विद्वानों का कथन है, कि अतिप्राचीन काल के मनुष्य आज की अपेक्षा वास्तविक मनुष्यता के अति निकट थे, अब वे पतनोन्मुख हैं। आजकल के विद्वान् यह बताते हैं, कि वह वास्तविक मनुष्यता की ओर अग्रसर हो रहा है। कहानियों के विकास के इतिहास से वे अपनी कल्पना का समर्थन लेते हैं। उनके कथनानुसार पूर्वकाल में मनुष्य वन-पशु की तरह नंग-धड़ंग सिर्फ कमर में पत्ता लपेटे जंगलों में रहता था और वन के कंद-मूल और फलों और शिकार पर जीवन-निर्वाह करता था। उसमें पशुओं से कुछ विशेष बुद्धि तो थी ही; धीरे-धीरे उसका विकास हुआ और वह प्रकृति की विभूतियों और अपने अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओं से परिचित हुआ और सभ्य बनने लगा। कहानियों के विकास के इतिहास से तो यही बात सत्य भी प्रमाणित होती है।

मनुष्य के आदि गुरु वन के पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े थे। उन्हीं से उसने भावों का प्रदर्शन, स्वरों का ज्ञान, शोभा-सजावट और घर बनाकर रहने की कल्पना, सुविधा और सुख का ज्ञान प्राप्त किया।

कहानी तो मनुष्य के जन्म ही से साथ है। मनुष्य का जीवन स्वयं एक कहानी है और वह मनुष्य से बड़ी है। मनुष्य रास्ते में उसका साथ छोड़ देता है, पर वह आगे जाती है।

मूरति से कीरति बड़ी, बिना पंख उड़ि जाय।
मूरति थिर नाहीं रहति, कीरति कतहुँ न जाय।।

प्रत्येक मनुष्य गर्भावस्था ही से कहानी बनाता रहता है। यदि यह कहा जाय कि कहानी बनाने ही के लिये मनुष्य पृथ्वी पर आया है तो मेरी

राय में अत्युक्ति न होगी। वह रात दिन के प्रत्येक क्षण में किसी न किसी कहानी का कोई न कोई अंग बनाता ही रहता है। पर कोई मनुष्य यह नही जानता कि वह कौन-सी कहानी बना रहा है। उसे जाननेवाले लाखों मे कहीं एक-दो होते हैं, और जानकर प्रकट करनेवाले "शरत्चंद्र" और "प्रेमचंद" तो और भी कम।

कहानियों का जन्म-स्थान कहाँ था। अति प्राचीन काल में जब मनुष्य गांव बसाकर रहने लगे; और आग के गुणों से परिचित हो गये, तब सरदी से बचने के लिये जहाँ आग जलती होती वहाँ बहुत-से मनुष्य उसे घेर कर बैठ जाते, और कभी समय बिताने के लिये और कभी मनोरंजन के लिये वे अपनी-अपनी जानी हुई घटनायें एक दूसरे को सुनाते और सुनते। वहीं आग के पास पहले-पहल मनुष्य के मुख से कहानियों का जन्म हुआ होगा।

पहले मनुष्य अपराध करना बहुत कम जानता था। चोरी, छल-कपट, बेईमानी, चालाकी और ठगने की कलाओं से प्रायः वह अनभिज्ञ ही था। तब किसी व्यक्ति विशेष का नाम लेकर किसी घटना को कहने सुनने में उसे संकोच होता था। इससे उस समय के मनुष्य के सारे अपराध वह कुत्ता-बिल्ली, चूहा, कौवा, लोमड़ी, सियार, शेर, हिरन, गाय, बैल, मक्खी, मच्छर, सांप, हंस, कबूतर, शहद की मक्खी, तोता, मैना, चींटा-चींटी आदि जाने-पहचाने जानवरों के मत्थे मढ़ देता था।

धीरे-धीरे जब मनुष्य के ज्ञान की परिधि बढ़ी और वह सुखों के बहुत-से साधनों और सुविधाओं को प्राप्त करने में दूसरे मनुष्यों की सहायतायें लेने लगा, और अपराध भी अधिक होने लगे, तब उसने जानवरों के साथ मनुष्य को भी मिला लिया, और ऐसी कहानियाँ चलीं, जिनमें जानवर भी मनुष्य की तरह बोलते और काम करते थे। कहानियों की मिठास जैसे-जैसे बढ़ती गई, उनमें मनुष्य की कल्पनानें भी मिलती गईं। जैसे, जादू-टोने, उड़न-खटोले, भूत-प्रेत, जिन और परियाँ, करामाती साधु

योगी या फकीर आदि की अनहोनी बातें भी बीच-बीच में जोड़ दी जाने लगीं। तभी घर का मामूली दिया अलादीन का चमत्कारी चिराग बन गया और जादू के जोर से मनुष्य तोता बनकर पिंजड़े में बैठने लगा।

चमत्कारों के बिना तो कहानियों में रस ही नहीं आता। जाडे की लम्बी रात में, अलाव को घेरकर बैठे हुए श्रोताओं में, जिनमें बालक, युवा और वृद्ध सभी अवस्थाओं के श्रोता होते हैं, जब कहानियों का स्रोत खुल जाता है, तब चमत्कार ही नींद को पास नहीं आने देते।

विद्वानों का कथन है कि कहानियों का मूल उद्गम-स्थान भारतवर्ष ही है। यहीं से कहानियाँ दूसरे देशों में गईं और वहाँ की भाषाओं की पोशाकें पहन-पहन कर उनकी हो गईं।

ऐसी कहानियों का एक बहुत बड़ा संग्रह, दो हजार वर्ष से अधिक हुए, गुणाढ्य नामके एक भारतीय पंडित ने पैशाची भाषा में "वृहत्कथा" नाम से किया था। वह अब अप्राप्य है। संस्कृत के बाण, दंडी, त्रिविक्रम और गोवर्द्धन आदि कवियों ने अपने ग्रंथों में उसका उल्लेख किया है। उसी के आधार पर क्षेमेन्द्र ने वृहत्कथा-मंजरी और सोमदेव ने कथा-सरित् सागर लिखा।

इस प्रकार के और भी संग्रह हुये, जिनमें पंचतंत्र, हितोपदेश, बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी और शुक बहत्तरी आदि संग्रह लिखित रूप में अधिक लोकप्रिय हुये। पंचतंत्र का तो इतना अधिक प्रचार हुआ कि संसार की शायद ही कोई सुसभ्य-भाषा उसके अनुवाद से बची हो। ५६१ ई० में उसका अनुवाद ईरान की पहलवी भाषा में हुआ। ७५० ई० में "कलेला दमना" के नाम से अरबी में, १०८० ई० में ग्रीक में, १२५० ई० में हिब्रू और लेटिन में, पंद्रहवीं सदी के अंत में 'अनवार सुहेली' नाम से फारसी में, १६४४ ई० में फ्रेंच में, १८५४ और १८६६ में लेटिन में दूसरी-तीसरी बार, और इनके सिवा अरबी से इटैलियन, स्पेनिश और जर्मन आदि भाषाओं में भी अनुवाद हुये। संसार की शायद ही किसी भाषा में 'पचतंत्र' ऐसा लोकप्रिय ग्रंथ लिखा गया हो। ईसप की कहानियाँ

भी इसी की नकल हैं। अलिफ लैला के लिए भी कहा जाता है कि वह भारतीय कहानियों का रूपान्तर-मात्र है।

जितने प्रकार के अपराध या सत्कर्म हो सकते हैं, जब मनुष्य ही कुल करने लगा, और उन्हें खुलकर कहने में किसी को संकोच नहीं रह गया, तब पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों की आड़ छोड़ दी गई और कहानियां मनुष्य के विशुद्ध चरित्र की, चाहे वह भला हो या बुरा, कही जाने लगी, और जानवरों और मनुष्यों के मिश्रण की कहानियों के अतिरिक्त केवल मनुष्य के चरित्र पर कल्पित कहानियाँ भी बनने लगी। इन दिनों तो जानवरों से कहानियों का काम लेना प्राय: बन्द ही हो गया है। मनुष्य ही के इतने चरित्र मिलने लगे कि लेखकों को उन्हीं का चित्रण करने और पाठकों को मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क की लीलायें देखने में आनंद आने लगा।

मैंने गाँव की पाठशाला में पढ़ते हुए सबसे पहले केवल मनुष्य के चरित्रों की जो पुस्तक पढ़ी थी, वह थी चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता संतति। यद्यपि उसमें भी तिलिस्म आदि की अनहोनी बातों का पुट था, पर मनुष्य की 'ऐयारी' ही विशेष थी, जो मस्तिष्क को रुचिकर लगती थी। यह सन् १९०३-४ की बात है।

इसके बाद तो हिन्दी के मासिक पत्रों में मनुष्य की सच्ची या कल्पित और बँगला से अनुवादित कहानियों का ताँता ही लग गया। बँगला से अनुवादित कहानियों में मुझे बंकिम बाबू की कहानियाँ अधिक रुचिकर लगीं। उनके उपन्यास भी पढ़े, वे भी अच्छे लगे। फिर प्रेमचंद आगे आते हैं। प्रेमचंद की कहानियाँ ज्यादातर अपने ही घरों की थीं, इससे उनमें ज्यादा रस आना तो स्वाभाविक ही था। प्रेमचंद मनुष्य-स्वभाव के बड़े सूक्ष्मदर्शी लेखक थे और मेरे मित्र भी थे, इससे मैंने प्राय: उनकी सब कहानियाँ पढ़ ली थीं। शरत् बाबू को मैंने प्रेमचंद के बाद पढ़ा। अब तो हिन्दी में बहुत अच्छे-अच्छे कहानी लेखक उत्पन्न हो गये हैं और कहा-

नियों की पुस्तकों की खपत भी बढ़ गई है। इससे मालूम होता है, कहानियों की ओर जनता की रुचि बढ़ रही है।

मेरा स्वाभाविक झुकाव कविता की ओर बचपन ही से अधिक था। इससे हिन्दी का पद्य-साहित्य तो जहाँ तक लिखित और मुद्रित मिल सका, मैंने करीब-करीब पूरा पढ़ डाला। उपन्यास और कहानियाँ मैं दिमागी थकावट मिटाने और विषय बदलने के लिये ही पढ़ा करता था। बच्चों के लिये मैंने सौ से अधिक कहानियाँ लिखीं, वे भी थकावट मिटाने के लिये ही लिखी गई थीं। बड़ी उम्रवालों के लिये मैंने दस-पंद्रह कहानियाँ मनोयोग से भी लिखीं; पर कल्पित कहानियों में मुझे रस नहीं आता था। मुझे सारे भारत में घूमने-फिरने और प्रायः प्रत्येक प्रांत के सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के अवसर मिले हैं, इससे मेरे पास तो सच्ची कहानियाँ ही इतनी अधिक हो गई हैं कि मैं उन्हें लिख डालूं, तो मेरा खयाल है कि कल्पित कहानियों से वे अधिक प्रभावशालिनी होंगी।

इस संग्रह में जो कहानियाँ दी गई हैं, वे घटना-रूप में सब सच्ची और आँखों-देखी हैं। 'बफ़ाती चाचा' और "भीखिन मँगबअ्" कहानियों को छोड़कर शेष सभी कहानियों के पात्र जीवित हैं, और वे जीवन की अन्य कहानियों के निर्माण में लगे हैं।

मेरी जानकारी में तो प्रत्येक कुटुंब और प्रत्येक मनुष्य एक कहानी है; उनको कोई मर्मज्ञ और लेखन-कला में निपुण लेखक चाहिये। कह नहीं सकता कि मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ। पाठक ही बता सकते हैं।

बसंत-निवास,
सुलतानपुर (अवध)
१ नवंबर, १९५३

रामनरेश त्रिपाठी

"साहित्यिकों की किसी बड़ी सभा में कवि मिले तो मैं उसका मान-मर्दन करू"—यही एक लालसा अब रतन के चारों ओर लहराने लगी।

कवि ने अपनी प्रतिभा से सारे प्रान्त पर मोहिनी डाल दी थी। कंठ-कंठ में वह गुजार करने लगा था। हृदय-हृदय में वह रस बरसाने लगा था।

रतन का विक्षोभ भी बढ़ता ही गया।

साहित्यरसिकों ने एक स्वर से कवि को 'साहित्य-परिषद' का सभापति चुना। कवि के दर्शनों के लिए, उसके मधुर कंठ से उसकी कविता सुनन के लिए, अपने यशस्वी सभापति के स्वागत के लिए, दूर-दूर से साहित्य-प्रेमी लोग आने लगे।

भरी सभा में रतन ने उस ठग से बदला लेने की ठानी। वह भी घनघोर घटा की तरह उमड़ी हुई उस सभा में उपस्थित हुई।

रतन ने कवि को अपनी आँखों से नहीं देखा था। केवल उसकी रचना पर मोहित होकर वह उसे प्यार करने लगी थी। उस दिन सभा में एक ऊँचे मच पर कवि को आसीन देखकर वह विचलित हो उठी।

कवि सुन्दर था। उसके नेत्रों में उसके स्वभाव की गम्भीरता, ललाट पर ब्रह्मचर्य का तेज और मुखाकृति मे आचरण की पवित्रता जगमगा रही थी। रतन को वह कविता में तो सुन्दर दिखता ही था, आँखों में भी सुन्दर दिखाई पड़ा। रतन के मन की क्या दशा थी ? क्या कोई अनुमान कर सकता है ? वह सोचने लगी—मै सभा में न आती तो अच्छा था।

कवि ने अपने प्रारम्भिक भाषण के अवसर पर श्रोताओं के विशेष आग्रह से अपने मुख से अपनी कविता का पाठ किया। कविता के भाव और कवि के मधुर कंठ ने मिलकर रतन को भीतर ही भीतर मसल डाला।

पर स्त्री के स्वभाव में पुरुष की अपेक्षा साहस अधिक होता है। रतन ने सोचा—चाहे जो कुछ हो, मै जिस काम के लिए आयी हूँ, उसे अवश्य पूरा करूँगी। आज मैं इस कवि को नीचा न दिखाऊं तो मै स्त्री नहीं।

प्रारम्भिक भाषण के बाद सभा में कुछ कवितायें पढ़ीं गयीं, दो-एक व्याख्यान हुए, फिर रतन को बोलने का समय मिला।

रतन अपने दहकते हुए हृदय को लेकर सभा-मंच पर गयी। वहीं सभापति के पास होकर वक्ता के स्थान पर जाते हुए कवि की दृष्टि से उसकी दृष्टि का प्रथम सम्मिलन हुआ। सभापति की कुर्सी से वक्ता का स्थान चार ही कदम की दूरी पर तो था।

रतन ने अपनी मधुर वाणी से समस्त श्रोताओं के कानों में अमृत की झड़ी लगा दी। सबकी आंखें उसके सुन्दर मुख पर आकर केन्द्रित हो गयी। श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध की तरह उसकी वाणी से आनन्द–सुधा का पान करने लगे।

पर यह क्या हुआ ? रतन के मुख से कवि के विरुद्ध एक शब्द भी न निकला। उसने कवि की कविता का मर्म अन्य भाषाओं के कवियों के पद्यों से तुलना करके सभा को ऐसी सुन्दरता से समझाया कि कवि स्वयं उसकी व्याख्या पर मोहित हो गया। यहाँ तक कि उसके हृदय का हर्ष आँसू बनकर उसकी आँखों की राह बाहर छलक पड़ा।

रतन का भाषण समाप्त होते ही सभा-मण्डप उसकी प्रशंशा के शब्दों म गूंज उठा। वृद्ध साहित्यिक आशीर्वाद देने लगे, युवा साहित्यिक उसकी प्रतिभा का लोहा मान गए।

श्रोताओं में कानाफूसी होने लगी---यह रत्न इसी कवि के लिए सिरजा गया है। यह सरस्वती का अवतार है।

कवि के मन की दशा विचित्र थी। वह अपनी ही कविता की रसधारा में बह गया था। मठ का हठ अब उसे याद ही न था।

कवि के उसी घनिष्ठ मित्र ने सभा की समाप्ति पर उससे पूछा---'क्या राय है ?'

परास्त कवि ने कहा---'मैं अपना हृदय इसे दे सकता हूँ।'

कवि के मित्र ने रतन से मिलकर कहा---'कवि अपना हृदय दे रहा है, ले लो।'

स्त्री के हृदय में प्रतिहिंसा की आग भड़क उठी। रतन ने उठकर तिरस्कारपूर्वक उत्तर दिया—'मठ का जूठा हृदय लेकर मैं क्या करूँगी ?'

कवि ने रतन का उत्तर सुना। सभा का कार्य समाप्त होने पर वह मठ को वापस गया। वहाँ उसने एक गहरी साँस ली और कहा—'हाय ! माया के एक साधारण धक्के से मैं गिर पड़ा। मुझे धिक्कार है !'

वह व्रत उपवास आदि करके प्रायश्चित्त करने लगा।

कवि से बदला लेकर रतन विजयिनी की भाँति अपने घर गई। घर पहुँच कर वह बड़े कौतूहल से सोचने लगी—सभा में कवि की निन्दा का एक भी शब्द मेरे मुख से क्यों नहीं निकला ? हृदय का परिवर्तन आँखें मिलते ही केवल चार कदमों में कैसे हो गया। आश्चर्य है !

बदले की आग बुझ चुकी थी। अब उसे दिखाई पड़ने लगा था कि वह तो मस्तिष्क से उतर कर हृदय में आ गई थी।

वह अत्यन्त व्यथा से व्याकुल होकर छटपटाने लगी—'हाय ! इतने दिनों की कठोर तपस्या से पाए हुए कवि के हृदय को मैंने ठुकरा क्यों दिया ?'

प्रेम के पंथ का यह दूसरा काँटा था।

चलो बहन ! घर चलें

कानपुर घना बसा हुआ शहर है । कुछ चौड़ी सड़कों को छोड़कर बाकी सारा शहर गलियों से भरा हुआ है, जो संकरी, गंदी और बेमेल घरों के बीच में पड़ी हुई हैं । अगर कहीं किसी की भड़कीली कोठी है, तो उसकी बगल में एक गंदी-सी झोपड़ी भी है । कहीं पाठशाला है, तो उसके पड़ोस में ठठेरा भी बसा हुआ है ।

शहर के एक किनारे गरीबों का मुहल्ला है, जिसमें एक लम्बी और टेढ़ी गली के दोनों ओर खपरैलों और छप्परों से छाए हुए मिट्टी के मामूली घर बने हुए हैं । इन घरों में मिलों के मजदूर, कुली, खोंचेवाले, नाई, धोबी, दूध वाले और धनी मुहल्लों में पान की दूकानें रखनेवाले किराए पर टिके रहते हैं । गरीबों के मुहल्ले में भड़भूंजा तो बस्ती का एक खास अंग ही है । दो-एक घर उसके भी हैं ।

इन घरों में वे लोग बसते हैं, जो जीवन भर गरीब ही बने रहते हैं । पन्द्रह-सोलह वर्ष ही की उम्र से वे काम की चक्की में पिसने के लिए रोज सूरज के साथ ही घर से निकलते हैं और उसी के साथ अँधेरे में लुक जाते हैं । लगातार पचास-साठ वर्षों तक नित्य का उनका यही क्रम जारी रहता है ।

उसी महल्ले में एक भड़भूंजे के घर से सटा हुआ एक दूसरा घर था, जिसमें एक युवक अपनी युवती स्त्री और एक बच्चे के साथ रहता था । युवक एक प्रेस में कंपोजीटर का काम करता था । उसकी उम्र पच्चीस के लगभग थी और उसका नाम था जैराम । वह स्वस्थ, सुडौल और उन्नतिशील युवक था । जैराम की स्त्री जैदेई का बदन छरहरा, रंग गेहुँवा, चेहरा सुडौल और आँखें काली व चमकीली थीं । वह स्वभाव की हँसमुख और सफाई-पसंद थी । घर की कोई चीज वह बेकरीने

नहीं पड़ी रहने देती थी। बड़े सबेरे उठकर आँगन को झाड़-बुहार कर और तुलसी के चबूतरे को गोबर से लीपकर विमल बनाए रखती थी।

प्रेस नौ बजे खुलता था, इससे आठ बजे तक खाना तैयार करके वह जैराम को खिला-पिलाकर काम पर रवाना कर देती; फिर अपने खाने-पीने में लग जाती और दिन का बाकी समय कूटने-पीसने, सीने-पिरोने और बच्चे के साथ हँसने-खेलने में लगाए रखती थी। उसकी उम्र बीस-इक्कीस के लगभग थी।

बच्चा साल-डेढ साल का था। सुन्दर, गोरे रंग का और बड़ा चंचल था। उसके मुह की बनावट उसके बाप से ठीक मिलती-जुलती थी। जैदेई की दृष्टि बच्चे के चेहरे पर चिपकी ही रहती थी। एक पल को भी वह उसे अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देती थी।

जिस दिन का हाल मैं लिखने जा रहा हूँ, वह प्रेस में छुट्टी का दिन था। शहर में जोरों की अफवाह थी कि हिन्दू-मुसलमानों में दंगा होने वाला है। छुट-पुट हमले हो भी रहे थे।

दंगे के दिनों में घर से बाहर निकलना जान जोखिम का काम है। जैदेई की सलाह से जैराम ने यह उचित समझा कि चार-छः दिनों के लिए खाने-पीने का कुछ अधिक सामान लेकर वह घर में रख ले। और वह सौदा लाने के लिए कुछ दिन चढ़ते ही बाजार चला भी गया था।

जाड़े के दिन थे। रोज सवेरे ही धूप आँगन के चबूतरे पर आ जाती थी। जैदेई बच्चे को लेकर धूप में बैठ गई थी। नटखट बच्चा गोद में ठहरता ही न था। उचक-उचककर जमीन पर उतरना चाहता था। जैदेई ने उसे गोद से उतार दिया। वह हँसता किलकता, बकैयाँ बकैयाँ कभी इधर भागता, कभी उधर। माँ उठाकर पास बैठा लेती, वह फिर खिसक जाता। माँ बेटे में बड़ी देर तक यही खेल होता रहा।

जैदेई को एक गीत याद था, जो खास इसी मौके का था। वह धीरे धीरे स्वर से गाने लगी। इतने में बाहर बड़े जोर का हल्ला सुनाई पड़ा।

कुछ लोग "हो गया, हो गया "कहते हुए इधर से उधर भाग रहे थे और उनकी आवाज आँगन में सुनाई पडती थी।

जैदेई सिहर उठी। बच्चे को उसने झपटकर गोद में उठा लिया और आँगन का दरवाजा खोलकर उसने जैसे ही बाहर झांका, वह काँप उठी और किवाड़ बन्द कर भीतर से जंजीर चढाकर खड़ी-खड़ी छटपटाने लगी। उसे सबसे बड़ी चिन्ता जैराम की हुई। कहीं राह में छुरी भोंक कर उसको कोई मार न डाले। कही वह भाग कर आयें और किवाड़ खुलवाने के लिए खड़े हो, तब कोई मार दे, इस भय से घबराकर जैदेई ने साँकल उतार दी। पर, तत्काल उसे यह भय लगा कि दरवाजा खुला पाकर कहीं गुन्डे अन्दर न घुस आयें। उसने फिर साँकल चढा दी।

इक्कों और ताँगों के भागने की आवाज ने तो हल्ले को और भी डरावना बना दिया था। जैदेई न एक जगह खड़ी रह सकती थी, न बैठ सकती थी। वह किवाड के पास आकर, दरार से आँखें लगा कर बाहर का दृश्य देखने और बातें सुनने की चेष्टा करने लगी।

गली के नुक्कड़ पर बड़ी भीड़ जमा थी। घरों से निकल-निकल कर लोग वहाँ इकठ्ठे हो गए थे। बाहर गए हुए लोग अपने घरों की ओर भाग-भागकर आ रहे थे। वे सच्ची-झूठी खबरें भी बाँटते जा रहे थे। खबरों को सुनकर जैदेई के जी में उथल-पुथल मच गई। उसी समय घुड़सवार पुलिस का एक दल खटपट-खटपट करता हुआ आया। भाग कर कोई कही छिप गया, कोई कहीं। दल आगे निकल गया।

भीड़ फिर जमा हो गई। इसके बाद छुरों और लाठियों से सुसज्जित मुसलमान गुन्डों का एक दल 'अल्लाहो अकबर' के नारा लगाता हुआ तूफान की तरह आया। हिन्दू लोग भाग कर फिर घरों में छिप गए। सन्नाटा पाकर एक मुसलमान गुन्डे ने दियासलाई जलाकर भडभूजे के झोपड़े में लगा दी। फूस का झोंपडा भभक उठा। यकायक हवा भी तेज चलने लगी। जो हवा फेफड़े में जाकर आदमी को जिन्दा रखती है, वही बेरहम की तरह आज घरों को जलाने लगी। मौके-मौके की बात है।

भड़भूंजे के झोपड़े की आग जैदेई के घर में जा पहुँची। जैदेई बहुत घबराई। एक तो पति के लिए बेचैन थी ही, दूसरे अब वह घर को बचाए या अपनी और बच्चे की जान बचाए? बाहर भीड़ जमा हो आई। मुहल्ले वाले और राह चलते दूसरे लोग भी आग बुझाने में लग गए। पुलिस भी आ गयी। दमकल को खबर दी गई, और थोड़ी देर बाद उसके भी घंटे की आवाज सुनाई पड़ने लगी।

आग ने और भी कई झोपड़े और खपरैल पकड़ लिए। उसकी लपटों और धुवों से आकाश भर गया। जैदेई अपने बच्चे को गोद में लिए हुए बाहर निकली और भीड़ में विलीन हो गई। घर का सब सामान स्वाहा हो गया।

जैदेई अपने बच्चे को छाती से चिपकाकर पगली की तरह अनिश्चित स्थान को चली जा रही थी। यदि पति के एकमात्र स्मृति स्वरूप उस बच्चे का मोह उसे न होता, तो जैराम को अगोरती हुई वह घर ही में खड़ी रहती, चाहे जलकर मर ही क्यों न जाती।

वह दिन भर हिन्दुओं की भीड़ में, हिन्दू मुहल्लों में घूमती रही। एक बार जैराम को पा जाती, तो उसको संसार को फिर कोई चिन्ता न रह जाती। उसे होश ही नहीं था कि कब शाम हुई, कब अँधेरा हुआ। सड़कें और गलियाँ जन-शून्य हो गयीं। कहीं-कहीं कुछ लोग घर के बरामदों में बैठे या खड़े दिखायी पड़ते थे और कोई आदमी सड़क पर आता जाता मिल जाता था, तो वे उससे पूछ लेते थे कि कहाँ क्या हो रहा है? मगर वे भी खतरे का आभास पाते ही भीतर भागने का दरवाजा खोले रखते थे।

जैदेई ने उस दिन पानी की एक बूंद भी मुंह में नहीं डाली थी। बच्चे को दो-चार बार उसने अपना दूध पिलाया था, पर उसका तो सारा ध्यान जैराम पर केन्द्रित हो रहा था।

शाम को शहर में आम तौर से यह चर्चा सुनाई पड़ी कि किसी मुसलमान ने शहर के कांग्रेसी नेता गणेशशंकर विद्यार्थी को जान से मार डाला। एक ने इतना और बताया कि विद्यार्थी जी का प्रेस भी लूट लिया गया। और

उसके सब कर्मचारी भी मार डाले गये। जहाँ यह बात हो रही थी, जैदेई दौड़कर उसके निकट चली गई और ध्यान से खबरों का एक-एक शब्द जैसे पीने-सा लगी।

सामने की गली से निकलकर आने वाले एक हट्टे-कट्टे हिन्दू भगोड़े ने बरामदे के लोगों को कहा कि—'गणेशशंकर विद्यार्थी के मारे जाने पर दंगा बड़े जोरों से बढ़ गया, बीस पच्चीस वर्ष के एक नौजवान ने बड़ी वीरता दिखायी। उसने कई मुसलमानों को घायल किया, मगर अंत में उसको भी एक मुसलमान ने छुरा भोंककर मार डाला।'

जैदेई के पैर के नीचे से मानो धरती खिसक गई। वह किससे कहे और कौन सुने? गोद में बालक, हृदय में पति की चिन्ता, सिर में बच्चे के प्राणों का मोह! जैदेई खड़ी न रह सकी। पास ही एक कोठी का बरामदा था, उसमें से होकर एक जीना ऊपर को गया था। वह बच्चे को लेकर उसी जीने के नीचे जाकर बैठ गई और आँचल में मुंह ढंककर सिसक-सिसक कर रोने लगी।

घोर अँधेरी रात थी। जाड़े की रातभर सड़क पर गुन्डों और भगोड़ों की दौड-धूप जारी रही। अँधेरे ने जैदेई की रक्षा की। उसे नींद तो क्या आती? रह-रहकर डर की लहरें उसके हृदय को हिला जाया करती थीं।

रात को लगभग चार बजे होंगे। चार-पाँच आदमी सामने की सड़क पर चले जा रहे थे। उनमें से एक कह रहा था—'निर्भय होकर चलिए, बाबू! मैं अकेला ही दस-बीस गुन्डों की खोपड़ी चूर-चूरकर देने के लिए काफी हूँ।'

जैदेई ने सुना और समझा, ये कोई गाँव के लोग हैं। रात में शहर में रुक गए थे, अब घर जा रहे हैं। वह भी बरामदे से निकलकर उनके पीछे-पीछे चल पड़ी। रात के पिछले पहर में दंगेवाले थक कर सो भी गए थे, इससे उन लोगों को बिना किसी छेड़-छाड़ के निकल जाने का मौका मिल गया। जैदेई भी उनके साथ ही खतरे से बाहर हो गई।

शहर के बाहर खुले मैदान में पहुँच कर उन लोगों में से एक ने जैदेई से पूछा—'तुम कहाँ जाओगी ?' जैदेई ने अपना सारा दुखडा कह सुनाया। वह आदमी बिठूर के आसपास के किसी गाँव का मुखिया था। अपने एक मुकदमें में कानपुर आया था। उसके साथ चार लठबन्द जवान भी थे। दंगा शुरू हो जाने पर वे अपने वकील के यहाँ ठहर गये थ। कहीं पुलिस के हाथ मे न पड़ जायँ, इस ख्याल से बड़े सवेरे वे शहर से बाहर हो गए थे।

मुखिया ने जैदेई के साथ बड़ी हमदर्दी दिखाई। उसे वह अपने घर ले गया और एक झोपड़े मे ठहरा दिया। जैदेई मुखिया के घर में बर्तन माँजने झाड़ू देने और बच्चों को खिलाने-पिलाने का काम कर देती और दोनों वक्त खाना पा जाती थी। मुखिया की स्त्री भी अच्छे स्वभाव की थी। जैदेई के दुःख को वह भी अनुभव करती और इसी से उस पर कुछ विशेष कृपादृष्टि रखती थी।

कानपुर के दंगे और खासकर गणेशशंकर विद्यार्थी के मारे जाने का समाचार जिले भर में आग की तरह फैल गया था और हिन्दू मुसलमानों में सर्वत्र तनाव बढ गया था। रोज धर-पकड़, जमानत-मुचलके और पुलिस की चढाइयों के सच्चे-झूठे समाचारों से सात-आठ महीने तक की हवा खूब गरम रही। धीरे-धीरे सन्नाटा छा गया और सब लोग अपने-अपने काम में लग गए।

मुखिया का एक नौजवान लडका था। तगडा बदन, रोबीला चेहरा, उठती हुई जवानी, लोगों पर आतंक जमाने का हौसला—उसमें सभी कुछ था। दंगे की गरमी खतम हुई, तो एक दिन उसकी नजर जैदेई पर पड गई। जैदेई जब झोपड़े में रहती तब वह भी उसके आस-पास मँड़राया रहता। कभी-कभी घर में से खाने-पीने की कोई मीठी चीज लाकर बच्चे को देता और जैदेई पर प्रभाव डालने लगता कि वह उसे चाहता है।

स्त्रियाँ दृष्टि का अर्थ मर्दो की अपेक्षा जल्दी और ज्यादा सही समझ लेती है। यह उनमें प्राकृतिक गुण होता है। जैदेई मुखिए के लड़के की दृष्टि से चिंतित हो गई। इससे वह झोपड़े में बहुत कम रहती। ज्यादातर

घर के अन्दर मुखिया की स्त्री के पास रहकर काम-काज में दिन बिता देती थी।

एक दिन शाम को जब वह झोपड़े में आई, तो मुखिया का लड़का घूमता-घामता आया और झोपड़े के अन्दर घुसकर बैठ गया। उसने कुछ ऐसी बातें छेड़ दी, जिनसे जैदेई को संदेह हो गया कि वह किसी बुरे अभिप्राय से लालच दिला रहा है। वह झटपट बच्चे को उठाकर यह कहती हुई बाहर निकल गई कि घर मे कुछ काम है, मालकिन ने इस समय ही बुलाया है। घर मे जाकर जैदेई ने मुखिया की स्त्री से कहा--'आज शाम को झोपड़ी मे एक साँप दिखाई पड़ा है, सो मैं आज घर ही में सो जाऊँगी। वह घर ही मे सो गई।'

उस गाँव से दो मील की दूरी पर देवी का मेला लगता था। वह अगले ही दिन था। बड़े सबेरे उठकर जैदेई ने मुखिया की स्त्री से कहा--'बच्चे के लिए मैंने देवी को प्रसाद चढ़ाने की मन्नत मानी है, इससे मै बच्चे को लेकर देवी का दर्शन करने जाना चाहती हूँ।'

उसे आज्ञा मिल गई। वह अपने जरूरी कपड़े लेकर चुपके से झोपड़ी के बाहर निकल गई और फिर नही लौटी।

वहाँ से दिन भर चलकर वह एक दूसरे गाँव में पहुँची और वहाँ भी एक किसान के घर में करीब एक वर्ष रही। इसी प्रकार एक गाँव मे दूसरे गाँव मे मेहनत-मजदूरी करते जैदेई के दिन कटने लगे। दो वर्ष बीते, चार वर्ष बीत गए उस बिचारी के मन की थाह लेने वाला कौन था। और कौन था उसके मन में छिपी आकांक्षा को सहलाने वाला? उसे सदा ऐसा लगा करता था कि सम्भव है उसका पति न मारा गया हो, लौटकर घर पर आया हो और घर को जला हुआ पाकर और यह समझकर कि हम दोनों भी उसी मे जल गए होंगे, कही बाहर चला गया हो। कानपुर वह छोड़ना भी चाहता था। बनारस के किसी प्रेस में उसे अच्छी नौकरी मिल रही थी। कही वह वहीं न चला गया हो। इलाहाबाद भी प्रेसों का घर है, शायद उसका पति वहीं न चला गया हो।

कानपुर से निकले जैदेई को चार-पाँच वर्ष हो गए थे। अब वह इलाहाबाद जिले के एक गाँव में पहुँची। वह गाँव इलाहाबाद शहर के एक खत्री जमींदार का था और वहाँ जमींदार का कारिंदा रहता था। कारिन्दे ने जैदेई को चौका-वर्तन करने के लिए नौकर रख लिया। कुछ दिनों बाद जमींदार के लड़का पैदा हुआ और उसने कारिन्दे से एक नौकरानी माँगी। कारिन्दे ने जैदेई को इलाहाबाद भेज दिया।

इस तरह जैदेई इलाहाबाद शहर में पहुंच गई। जमींदार का मकान अहियापुर मुहल्ले मे था। उस मुहल्ले में कई लोग इंडियन प्रेस, लीडर प्रेस, ला जर्नल प्रेस और हिन्दी-मंदिर प्रेस आदि सुप्रसिद्ध प्रेसों में काम करते थे। जैदेई ने सबसे पूछ-ताछ कराई, पर जैराम का पता किसी प्रेस में न चला।

एक दिन वह उस घर से भी चुपचाप निकल गई और गोपीगंज, भदोही आदि गाँवो में, कहीं दो-चार, कही चार-छः महीने टिकती हुई अंत में बनारस पहुँच गई।

शहर में उसे कोई काम नहीं मिला, पति को ढूंढे भी तो कैसे ? जैदेई रोज बड़े सवेरे बच्चे को लेकर दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों पर जा बैठती और हर एक आने-जाने वाले को देखा करती। तब तक उसका बच्चा आठ वर्ष का हो चुका था। बच्चा किसी भले आदमी को देखता, तो हाथ मे कटोरा लेकर उसके सामने जा खड़ा होता। कुछ लोग कटोरे में पैसे डाल देते थे। सुबह से शाम तक उन माँ-बेटे की कमाई का यही जरिया था। रात में वह दूकानों के खाली चबूतरों पर जहाँ कहीं भी जगह पाती वहीं बच्चे को अपनी गोद में चिपकाए हुए सो जाती।

जैदेई का तो यह हाल हुआ। उधर दंगे का हाल सुनकर जैराम भागकर घर आया तो घर को जलता हुआ देखकर वह पागल की तरह रात में देर तक अपनी स्त्री और बच्चे को ढूढता फिरा; पर वे न मिले। उनसे निराश होकर और उनको मरा हुआ समझकर जैराम ने उसी रात कानपुर छोड़ दिया। उसके पास कुछ पैसे बचे थे, उनसे उसने बनारस

का टिकट कटाया और वहाँ पहुँच कर एक प्रेस में नौकरी कर ली।

परिश्रमी और मिलनसार स्वभाव का होने के कारण जैराम ने जल्दी ही तरक्की कर ली और वह कम्पोजीटर से फोरमैन हो गया। उसका वेतन भी पहले से करीब दूना हो गया। यद्यपि जैदेई की याद उसके दिल से कभी नहीं गई थी, पर स्त्री के बिना घर-गिरस्ती चलती भी तो नहो ? लाचार होकर उसने एक लड़की से शादी कर ली, लड़की का नाम जगरानी था।

एक दिन जैराम अपनी नई पत्नी के साथ दशाश्वमेध घाट पर स्नान करने गया था। स्नान करके जगरानी ऊपर चली आई और कुछ चीजें खरीदने लगी; जैराम तिलक लगाने के लिए रुक गया।

घाट से छुट्टी पाकर जब वह सीढियाँ चढ रहा था, वही लड़का हाथ में कटोरा लिए उसके सामने आ खड़ा हुआ। लड़के को देखकर जैराम के हृदय में एक विचित्र प्रकार का खिंचाव पैदा हुआ। वह रुक गया और लड़के का मुंह बड़े ध्यान से देखने लगा। लड़का भी अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उसके मुंह पर टकटकी लगाकर देख रहा था।

यकायक जैराम की दृष्टि लड़के पर से हटकर एक स्त्री पर पडी, जो थोड़ी ही दूर पर सीढ़ी के छोर पर दीवार से पीठ लगाए बैठी थी। वह भी जैराम की ओर देख रही थी। वह जैदेई थी।

दोनों ने एक दूसरे को देखा। वे पत्थर की मूर्ति की तरह निश्चल हो गए। किसी के मुंह से कोई बात नहो निकली। दोनों ओर आँसुओं की धारा बह चली थी।

जैराम को रास्ते में खड़ा देखकर जगरानी ऊबने लगी। उसने आवाज दी, पर जैराम तो आपे में था ही नहीं; उसकी बात कौन सुनता ?

जगरानी ऊपर से उतर कर जैराम के पास आ गई। उसने जैराम की आँखों में आँसू देखकर पूछा कि क्या बात है ? जैराम ने जगरानी की आँखों में आँखें डालकर कहा—'यह मेरी पहली स्त्री है।'

जगरानी ने तत्काल आगे बढ़कर जैदेई की बाँह पकड़ ली और कहा—
'चलो बहन! घर चलें।'

आगे आगे दोनों पत्नियाँ, उनके पीछे पिता और पुत्र एक दूसरे का हाथ थामे हुए विश्वनाथ के मंदिर के पास वाली गली में चले गए।

वह फिर नहीं हंसी

एक बड़े शहर में मेरे एक मित्र हैं। ग्रेजुएट हैं, मिलनसार, गुणग्राही, व्यापारी और व्यवहार-कुशल भी। युवावस्था ही में उनकी पहली पत्नी का देहान्त हो गया। तब समाज की पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने के ख्याल से उन्होंने यह निश्चय किया कि चूंकि वे विधुर हैं, दूसरा विवाह वे किसी बाल-विधवा ही के साथ करेंगे।

मेरे मित्र ने एक दूसरे प्रान्त की षोडश वर्षीया बाल-विधवा को चुना, जो बहुत सुन्दरी थी और हाईस्कूल तक शिक्षा भी पाए हुए थी। समाज सुधारकों ने दोनों का विवाह बड़ी धूमधाम से कराया। पर, रूढ़िवादी समाज ने दोनों को जाति-च्युत कर दिया।

मेरे मित्र अपनी नई स्त्री के साथ बहुत सुखी थे। दोनों में प्रगाढ़ प्रेम था। ऐसा जान पड़ता था कि दोनों एक दूसरे को देखकर ही जी रहे थे।

एक दिन किसी काम से मैं उस शहर को गया था। एकाएक सड़क पर हम दोनों आमने-सामने पड़ गए। मित्र बड़े तपाक से मिले और उन्होंने आग्रह किया कि उनके विवाह की खुशी में मैं उनके घर चल कर चाय पिऊँ।

एक तो बहुत दिनों बाद मिले थे, दूसरे, मित्र की नई गृहस्थी का सुख देखने की उत्सुकता थी। मैं उनके साथ उनके घर गया।

हलके बादामी रंग से पुता हुआ, नई बनावट का पक्का मकान था। मित्र ने दरवाजे पर उँगली से तीन बार खटका किया। फौरन् एक युवती ने दरवाजा खोला। वही उनकी स्त्री थी। सचमुच बहुत रूपवती थी। वहाँ खड़े ही खड़े मेरे मित्र ने अपनी पत्नी को बड़े सम्मानपूर्ण शब्दों में मेरा परिचय दिया और मुझ से कहा—'यह मेरी धर्मपत्नी है।'

गृहलक्ष्मी ने दोनों हाथ जोडकर मुझे प्रणाम किया। हम दोनों मित्र अंदर जाकर चाय पीने की मेज पर बैठ गए। स्त्री दूसरे कमरे में चली गई। लौटी तो हाथों में कई तरह की मिठाइयाँ और नमकीन लिए हुये। चाय आई, फल आए। दोनों ने मुझे बड़े तकल्लुफ से खिलाया-पिलाया। मैंने देखा, मेरे मित्र की नववयस्का धर्मपत्नी का तन ही सुन्दर नहीं था, मन भी सुन्दर था। वह पत्नी हँसमुख भी थी। मेरी दशा चोर की-सी हो रही थी। मैं उसे देखना चाहता था, पर पलक नही उठती थी। पत्नी के तन और मन दोनों की सुन्दरता पति को बड़े भाग्य से मिलती है।

गृहलक्ष्मी तो हमें खिला-पिलाकर अन्दर चली गई। हम दोनों मित्र बठक मे आए और गद्दे पर मसनद के सहारे बैठ गए।

मैंने पूछा—इस नए विवाह से आप बहुत सुखी होंगे ?

मित्र ने कहा—बहुत ही। हम दोनों में इतना प्रेम है कि बिना एक दूसरे को देखे कल नहीं पड़ती। पहले मैं दूकान से सबेरे का गया फिर शाम ही को आता था। अब दिन में दो-चार बार, जैसा मौका मिला, कोई न कोई बहाना निकालकर चला ही आता हूँ। मैं कह नहीं सकता, जीवन में इससे भी अधिक कोई सुख होता होगा !

मित्र के सुख से मुझे भी प्रसन्नता हुई। मैंने विदा ली, और मित्र ने कभी आकर दो-चार दिन साथ ठहरने का वादा लिया।

इसके बाद आठ-दस वर्षों तक उस शहर में जाने का मुझे मौका नही मिला। मैं मित्र को भूल-सा गया। एक दिन किसी काम से मुझे उस शहर में फिर जाना पड़ा। काम से छुट्टी पाने पर, ट्रेन आने तक मेरे पास कई घंटे बच रहे थे। एकाएक मुझे मित्र की याद आई। उसकी खोज-खबर लेने और एक सुखी परिवार में कुछ समय सुख मे बिताने के लिए उसके घर पहुँचा।

मित्र कहीं बाहर जाने की तैयारी में थे। मुझे देखकर खुश हुए और दरवाजे पर उन्होंने तीन खटके किए। गृहलक्ष्मी ने दरवाजा खोला तो, पर मेरी तरफ कुछ ध्यान दिए बिना ही वह वापस लौट गई। मैंने समझा,

किसी जरूरी काम में लगी होगी। उस दिन उसके चेहरे पर हर्ष नहीं था, उदासी थी।

इस बार जलपान लाया नौकर! मेरे मित्र जलपान कर चुके थे; पर मेरे साथ उन्होंने एक प्याला चाय और पी ली।

जलपान करके हम दोनों उसी गद्दे पर, मसनद के सहारे जा बैठे।

मैंने पूछा--अब आप कितने सुखी हैं?

मित्र ने उदासी के साथ कहा--अब सुखी नहीं हूं।

मैंने आश्चर्य से पूछा--यह कैसे हुआ?

मित्र ने कहा--मेरा ही अपराध है।

मेरा कौतूहल बढ़ता ही गया। मैंने पूछा--कोई न बताने योग्य बात न हो, तो मुझे भी बताइए। दस वर्ष पहले तो मैं आप को बहुत ही सुखी देख गया था। फिर क्या बात हुई? क्या संतान के लिए खिन्न हैं?

मित्र ने कहा--संतान तो भगवान ने दी है। खाना, पीना, पहनना सब पहले से बढ़कर है; पैसे की आमदनी भी बढ़ी है; पर वह सुख नहीं है और उसका अपराधी मैं हूँ।

मैं मित्र के उदास चेहरे को एकटक देखता रहा। मित्र ने एक गहरी साँस ली और कहना शुरू किया--एक दिन हम दोनों में एक मामूली-सी बात को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। बातों बातों में वह क्रोध की सीमा तक जा पहुँचा। मुझे ज्यादा क्रोध चढ़ आया और मैं यह कह कर घर से बाहर चला गया कि--"एक को तो तू खा चुकी है, मुझे भी खाएगी।"

उस दिन शाम तक मैं घर नहीं आया। आया तो वह दरवाजा खोलने आई और दरवाजा खोलकर चुपचाप वापस गई। मैंने देखा, उसकी आँखें भरी हुई थीं। बस, उस दिन से, आज एक वर्ष से ज्यादा हो गए हँसी उसके मुंह पर दिखाई ही नहीं दी। घर का सब काम पहले ही जैसा चलता है, पर हँसी घर में से चली गई। कई बार अचानक मैं घर में आया हूँ तो उसकी आँखों से मुझे मालूम हुआ, जैसे वह रो रही थी। मेरे आने

पर वह हँसती हुई ललककर अब नहीं आती। आँखें भी नही मिलाती; सदा नीचे देखती रहती है।

मित्र ने यह कहकर फिर एक गहरी साँस ली। मैं चुपचाप सोचने लगा––उसके नाम के साथ एक और पति का संबंध अब भी जुड़ा हुआ है––हृदय को यह एक चोट लगनेवाली बात तो है ही। अब उसके हृदय ने केन्द्र बदल दिया है; वह अपने पहले पति की परिक्रमा कर रही है, जिसे उसने कभी देखा भी नहीं था।

विषय को बदलने के लिए कुछ इधर-उधर की दूसरी बातें करके मैंने विदा ली, और मित्र का दु:ख तो नहीं. उसकी बाल-विधवा पत्नी के हृदय का दु:ख साथ ले आया, जो आज तक सुरक्षित है।

एक वाक्य की चोट से एक घर का सुख निकल गया।

बफ़ाती चाचा

सन् १९२१। गाँधी जी के दिन। सावन की शाम। घटा उमड़ी हुई थी। झींसे पड़ रहे थे। इलाहाबाद के एक होटल के सामने तीन-चार खद्दरपोश व्यक्ति मोटर से उतरे। वे उस सुहावनी बरसात में होटल में चाय पीना चाहते थे।

घटा घिरी हो, झींसे पड़ते हों, पूर्वी हवा चलती हो तब चाय बड़ी मजेदार लगती है, इसका अनुभव चाय पीनेवालों को खूब होता है।

चारों मित्र होटल के अन्दर जाकर एक टेबिल पर बैठ गये। एक ने मैनेजर को चाय लाने को कहा। फिर वे बातें करने लगे।

चारों की उम्र २० और ४० के अन्दर थी। चारों शिक्षित थे, जो उनके अंग-संचालन, पोशाक और बातचीत से प्रकट हो रहा था।

एक, जो उम्र में सबसे छोटा था, और उसकी बातचीत से मालूम होता था कि होटल में आने से पहले वह किसी गंभीर चर्चा में अपना मस्तिष्क गरम कर चुका है, उत्तेजित होकर कहने लगा—मैं इस बातको नही मानता कि हिन्दू-मुसलमानों में कभी मेल हो ही नहीं सकता।

दूसरे ने कहा—गाँधीजी जैसा मेल कराने वाला महात्मा यदि सफल न हुआ, तो मेल क्या दाल-भात है?

तीसरे ने कहा—हिन्दू मुसलमानों का विरोध शहरों ही में है। देहात में दोनों भाई-भाई की तरह मिलकर रहते है।

एक समर्थक पाकर पहला युवक अधिक उत्साह से कहने लगा—आप सच कहते हैं। देहात में अभी तक विरोध की बातें पहुँची ही नहीं थीं। हाँ, हिन्दू-मुसलमानों के मेल के सौदे ने वहाँ भी विरोध की आग पैदा कर दी है, और यह शरारत अँग्रेजों की है।

चौथा व्यक्ति, जो शहर ही का निवासी जान पड़ता था, और अवस्था मे भी उन तीनों से बड़ा था, हँसकर कहने लगा––वाह मेल की बात से उलटे विरोध !

युवक ने चेहरे पर पूरा जोर लगाकर कहा––हाँ, मेल के सौदे ही ने विरोध उत्पन्न किया है। मै देहात का रहने वाला हूँ। मै देहात की दशा से अच्छी तरह जानकार हूँ। दस बरस पहले देहात में हिन्दू-मुसलमानों में जैसा मेल था, वैसा मेल यदि आज दाम देकर मिले तो सारा हिन्दुस्तान देकर भी मैं उसे ले लेने को तैयार हूँ। फिर भी, वह हमें बहुत सस्ता पड़ेगा। क्योंकि हिन्दू-मुसलमानों का वह मेल न जाने कितने नए हिन्दुस्तान बना लेगा।

चाय आ चुकी थी और सब दो-चार घूट ले भी चुके थे। युवक की बातों का प्रभाव उन पर अच्छा पड़ा। सब ने चाय का प्याला रख दिया और युवक की बातों में वे तन्मय-से होते जान पड़ने लगे। हिन्दुस्तान के मूल्य पर हिन्दु-मुसलमानों का मेल खरीदना क्या कोई साधारण बात थी !

शहर के अधेड़ पुरुष ने कहा––तुम कवियों की-सी कल्पना करते हो। मै इतिहास के सत्य को प्रमाणित मानता हूँ। हिन्दु-मुसलमानों में ऐतिहासिक अन्तर है। उनमें कभी अंतस्तल की एकता हो ही नहीं सकती।

युवक ने अपने कथन की सचाई पर दृढ़–निश्चयी की भांति कुछ मुसकराते हुए कहा––महाशय ! मैं विश्वास करता हूँ कि एक उदाहरण आपके विचार को बदलने के लिए काफी होगा। मै आपको अपने ऊपर बीती एक बात सुनाना चाहता हूँ।

यह कह कर उसने अन्य दो मित्रों की तरफ दृष्टि की। और जब उसने देखा कि वे तीनों उसकी बातों में रस लेने को उत्सुक हैं, तब उसने कहना शुरू किया––

मै एक गाँव का रहने वाला हूँ। एक किसान का लड़का हूँ। मेरे पिता संस्कृत के पंडित थे, पर किसानी करते थे। मेरे मुहल्ले के अंत में

बफ़ाती मियाँ नाम के एक जुलाहे थे। थे तो वे जुलाहे, पर जुलाहे का पेशा न करके किसानी करते थे। उनके और मेरे पिता के खेत पास-पास थे। इससे हम लोगों का उनसे रात-दिन का संसर्ग था।

महल्ले के बच्चे बफाती मियाँ को बफ़ाती चाचा कहा करते थे। बफ़ाती चाचा हम लोगों को अपने बच्चों से कम प्यार नहीं करने थे। पर, वे सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि कहीं उनसे हमारे खाने-पीने की चीजें छू न जायँ। वे बैठक में बैठे होते और उनकी मौजूदगी में कभी बैठक में पानी या किसी मिलने वाले के लिये गुड़ या शरबत आता तो से स्वंय उठकर बैठक के बाहर चले जाते थे। उनको इसका कुछ भी मलाल न होता था। वे समझते थे कि हिन्दुओं में ऐसा ही रिवाज है। उसका वे प्रसन्नता से पालन करते थे।

खेत पास-पास होने से कभी मेरे पिता और कभी बफ़ाती मियाँ खेत की रखवाली कर लिया करते थे। मक्के के खेत की रखवाली के दिनों में हम लोग जब बड़े सबेरे उठकर फूट और ककड़ी के लिये खेत में जाते, तब मेंड़ ही पर से चिल्लाते—बफ़ाती चाचा, सोते हो कि जागते ?

बफ़ाती चाचा माचे पर से और कभी खेत के अन्दर से बोलते—आओ बेटा ! आज बड़े अच्छे-अच्छे फूट निकले हैं।

वे अच्छे-अच्छे फूट चुनकर साथ में लिये हुए मेरे पास आते और मुझे दे देते ! अपने बच्चों को वे मामूली फूट देते थे।

मेरे खेत से जो फूट आते, उनमें से कुछ अच्छे-अच्छे चुनकर मेरे पिता बफ़ाती चाचा के घर भेजवा दिया करते थे। इस तरह एक हिन्दू पंडित और एक मुसलमान जुलाहे की मैत्री मधुरता के वातावरण में फूलती-फलती रहती थी। हमलोग कभी स्मरण ही नहीं करते कि हम हिन्दू हैं और बफ़ाती चाचा मुसलमान हैं, और हम दोनों की दुनिया दो है।

मैं अपने चार भाइयों में सबसे छोटा था। बफ़ाती चाचा मुझे बहुत प्यार करते थे। आम के दिनों में बाग में जब पहली सीकर (कोंपल या टपका) उन्हें मिलती, तब वे उसे अंगोछे के कोने में बाँधे आते और मैं मुहल्ले

में कहीं खेलता होता तो ढूंढकर मुझे देते। मै उसे सूंघकर कहता—अहा! बफ़ाती चाचा, तुम बहुत मीठे हो।

वे गुड़ बहुत खाते थे, और मीठा बोलते भी थे, इससे हम लोग उन्हें मीठा कह कर चिढ़ाया करते थे। वे झुझलाते हुए पकड़ने दौड़ते थे पर कौन हाथ आता। इस बात की याद आज भी मीठी लगती है।

बफ़ाती चाचा कभी-कभी शाम को अपनी रोटियां रकाबी में लिये हुए मेरे यहाँ चले आते, बाहर बैठ जाते और पुकारकर कहते—बच्चा! देखो तो घर मे कोई शाक-तरकारी बनी है? आज मेरे घर में अभी दाल पकी ही नही।

मै घर में जाता, माँ से बफ़ाती चाचा के लिये दाल, तरकारी भात और कुछ चटनी, अचार माँग लाता। बफ़ाती चाचा बड़े प्रेम से खाते। वे खा भी न चुकते कि मै माँ से उनके लिए दाल-तरकारी फिर माँग लाता। वे रोकते ही रहते, पर मै उनकी रकाबी में उँड़ेले बिना न मानता। तब मैं देखता कि बफ़ाती चाचा की आँखो में स्नेह के आँसू भर आते। उनका जी अवश्य चाहता रहा होगा कि मुझे छाती से चिपका लेते। पर मै एक पंडित का लड़का था, इससे अपना स्नेह वे आँसुओं ही से प्रकट कर सकते थे।

फसल की सबसे पहली चीज वे मेरे लिये लाते। कटहल, आम, जामुन कोई भी चीज होती, पहले वे मेरे घर लाकर देते, फिर मेरे घर से वह उनके बच्चों के लिये जाती।

हमने कभी समझा ही नही कि हम दो हैं। यद्यपि हम रहन-सहन और धार्मिक मतभेद से दो थे।

इस तरह कई बरस बीत गए। मैं भी बचपन की सीमा से बाहर आ गया। मेरे पिताजी का भी देहान्त हो गया। गृहस्थी का सारा बोझ मेरे बड़े भाई के कंधों पर आ पड़ा। बफ़ाती मियाँ अब और भी तत्परता से अपना चाचापन निभाने लगे। मेरे बड़े भाई गृहस्थी के प्रायः सभी मामलों में उनकी सलाह लिया करते थे।

मुहल्ले के गोरू अहीर का एक लड़का चराया करता था। और भी कई गाँव के गोरू एक साथ चरा करते थे। एक दिन चरवाहों की लापरवाही से कई गोरू कब्रस्तान में जा घुसे और कुछ नए पौधों को, जिन्हें मुसल्मानों ने कब्र पर छाया और लकड़ी के लिये लगाया था, नोंच डाला। मुसलमान खबर पाकर दौड़े आए। उन्होंने चरवाहों को पकड़कर मारा पीटा भी, और उनके सब गोरूओं को भी वे पौंड की तरफ हाँककर ले चले।

चरवाहों ने दौड़कर अपने-अपने गाँवों में खबर दी। उस झुंड में जिन-जिनके गोरू थे, वे सब बात की बात में जमा हो आए। गाँव के बाहर हिन्दू-मुसल्मानों की एक बड़ी भीड़ गोरूओं को घेरकर खड़ी हो गयी।

हिन्दू-मुसल्मान का झगड़ा होने वाला है—यह समाचार जंगल की आग की तरह चारो ओर फैल गया। इससे वहाँ बहुत-से ऐसे हिन्दू-मुसलमान भी जमा हो आए, जिनका उस झगड़ा से कुछ भी ताल्लुक न था।

गोरूओं को छोड़ देने के लिये बहुत कुछ कहा-सुना गया, पर उन चरवाहों की यह लापरवाही पहली न थी, इससे मुसल्मान राजी न हुए।

वफ़ाती चाचा का बड़ा लड़का कलकत्ते की किसी मिल में नौकरी करता था। उसके बाल-बच्चे भी साथ थे। वह छुट्टी लेकर घर आया था।

कमाई के रुपये तो क्या लाया होगा, पर मुसलिम लीग का जहर खूब लाया था। उसने मुसल्मानों और हिन्दुओं के बीच में गहरी खाई खोद दी थी। उस दिन का मामूली-सा झगड़ा आपस ही में तै न हो सकने का एक कारण वह भी था।

अब दोनों ओर के लोग ललकारने लगे। धमकियाँ दी जाने लगीं। गालियाँ भी शुरू हो गई। लोग दौड़-दौड़कर लाठियाँ ले आये। चरवाहों के गाँव वाले भी लाठियाँ लेकर आए।

एक ही दो कड़ी बातों के बाद दोनों ओर का नियन्त्रण जाता रहता और दोनों तरफ के दस-बीस आदमी घायल हो जाते और आश्चर्य नहीं कि दो-एक मर भी जाते। यह परिणाम दस ही मिनट की दूरी पर सदेह होने की राह देख रहा था।

बफ़ाती चाचा भी अपने बेटों-पोतों के साथ मुसलमानों की तरफ से गये थे। वे लड़ाई तो नहीं चाहते थे, पर उन अकेले की सुनता कौन था? लीडर तो बफ़ाती मियाँ का बेटा और वे लोग थे, जिनके मुह में बुरी से बुरी और चुभने वाली गालियाँ और टेट में रुपए थे।

गाँव के बाहर बडा हल्ला मचा हुआ था। लोग तमाशा देखने के लिये उसी तरफ दौड़े चले जा रहे थे।

मेरे घर के गोरू भी वेढे गये थे। खबर पाकर मेरे मुहल्ले के सभी मर्द वहाँ जा पहुँचे थे। सब के हाथों में लाठियाँ थी। घर की स्त्रियाँ सशंकित मुख-मुद्रा से हल्ले की सीध में आँखें लगाए खड़ी थी। सब के होश उड़े हुए थे। आज न जाने कौन घायल होगा और कौन मारा जायगा!

शाम का वक्त था। मैं मदरसे में पढ़ने गया था। छुट्टी हुई और मैं घर की तरफ भागा। घर आकर देखा तो पुरुष तो मुहल्ले में एक भी नही रह गये थे। स्त्रियाँ भयभीत खड़ीं थी। लड़कपन के दिन; हल्ला-गुल्ला, धूम-धड़क्का खूब रुचता था। किताबों का बस्ता घर के अन्दर फेंककर मै हल्ले की सीध में भाग निकला। माँ रोकती रही, चिल्लाती रही, पर कौतूहल की डोरी मुझे हल्ले तक खीच ही ले गई।

मै भीड़ में घुसकर अपने भाइयों के पास जा खड़ा हुआ। सामने मुसलमानो की तरफ बफ़ाती चाचा आगे खडे थे। खूब गरमा-गरमी हो रही थी। दोनों तरफ बड़ा जोर था! हाथ छूटने ही वाले थे।

गाँव के लड़के मार-पीट को उतना भयानक नही समझते, जितना शहर के लड़के समझते है। लाठी चलना देखने का शौक मुझे खूब था।

संयोग की बात बफ़ाती चाचा मेरे सामने ही खड़े थे, मैंने पहुँचते ही पूछा—बफ़ाती चाचा! तुम किधर?

मेरी आवाज पहचानकर बफाती चाचा ने मेरी ओर देखा। तत्काल ही वे अपने बड़े लडके से लाठी छीनकर मेरे सामने आकर खड़े हो गए और ललकार कर अपने बेटों से कहने लगे—इसका बाप अब नही है। इसलिए मैं इस बच्चे की तरफ से लड़ूगा, तुम उधर से लड़ो, उठाओ लाठी।

बफ़ाती चाचा के इस कथन ने जादू का ऐसा असर डाला कि दोनों दलों के लोग एक बार तो ठक-से हो गए। हल्ला-गुल्ला शान्त हो गया। क्षण ही भर बाद सब मुसलमान सिर झुकाए हुए चुपचाप गाँव की तरफ चले गए और हिन्दू भी। हम लोग बफ़ाती चाचा को आगे करके अपने घर लौट आए। मैं बफाती चाचा की उँगलियाँ पकड़े चल रहा था। मैंने पूछा—बफ़ाती चाचा, लाठी चल जाती, तो क्या होता ?

बफ़ाती चाचा ने कहा—तो आज मैं भी तुम्हारे बाप के पास चला जाता।

मैं उस समय तो समझ न सका कि इतना गरम झगड़ा एकाएक ठंडा कैसे हो गया। पर आज समझता हूँ।

युवक ने अपने मित्रों को एक दूसरी ही दुनिया में पहुँचा दिया था, जहाँ केवल मनुष्य रहते हैं, न कोई हिन्दू, न कोई मुसलमान। उसने जेब से रूमाल निकालकर अपनी आँखें पोंछीं और भरे हुए गले से फिर कहना शुरू किया:—

बफाती चाचा को मरे कई बरस हो गया। वे जिस कब्र में गाड़े गए हैं, उसे मैं अब भी पहचानता हूँ। कब्रस्तान के पास ही नाला है। जब सबेरे-शाम शौच के लिए हम लोग नाले की तरफ जाते हैं, तब कब्रके पास होकर जाते समय बच्चों की तरह भोलेपन से पुकार लेते हैं—बफ़ाती चाचा! सोते हो कि जागते! यह विश्वास ही नहीं होता कि बफ़ाती चाचा मर गए हैं।

इसके बाद बफ़ाती चाचा की स्मृति में युवक का कंठ-स्वर डूब गया।

चाय ठंडी हो गई थी और होटल का बिल चुकता किया जा चुका था। वे चारो मित्र मुंह से एक शब्द निकाले बिना ही उठकर होटल से बाहर हो गए।

———

उन बच्चों का क्या हुआ

बुधनी अपने जीवन की एक लम्बी राह, जिसमें सैकड़ों नदी-नाले और घने और डरावने जंगल उसे पार करने पड़े थे, पूरी कर रही थी। उसे विश्वास हो चुका था कि उसकी नाव किनारे लग चुकी है और अब उसे उस भयानक लहरों का सामना नहीं करना पड़ेगा, जो उसकी नाव को समूचा निगल लेने के लिए मुंह बाए हुए, चारों ओर से घेरे रहती थीं।

इलाहाबाद जिले में बम्हरौली एक स्टेशन है। उससे थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा पुरवा है, जिसमें प्रायः सभी घर गरीबों ही के हैं। दस-पन्द्रह घरों की बस्ती है। पाँच-छः घरों पर खपरैल है, बाकी सब सरपत और रहठे के बने हुए झोपड़े हैं। बस्ती से थोड़ा हटकर नीम का एक पेड़ है, उसके नीचे एक झोपड़ा है। वही बुधनी का महल है।

बुधनी जब छः बरस की थी, तभी से वहीं रहती आ रही है। झोपड़ा बुड्ढा हो-होकर शरीर-त्याग करता रहा, पर जगह नहीं बदली और न बुधनी का शरीर बदला। इससे वह वहाँ के प्रत्येक कंकड़ और सिटके से भी अच्छी तरह परिचित हो गई थी।

उस झोपड़ी में बुधनी बचपन को साथ लेकर आई थी, पर बचपन थोड़े ही दिनों तक खेल-कूदकर चला गया। जवानी भी बिना बुलाए आई और बिना सूचना दिए चली गई। उसी झोपड़े में उसके इकलौते बेटे मँगरू का जन्म हुआ। उसी झोपड़े में पतोहू आई, उसी में उसके नाती हुए, उसी में अस्सी वर्ष की अवस्था में उसके पति का देहान्त हुआ, और उसी झोपड़े में प्लेग आया और एक ही दिन में, एक ही घड़ी में वह उसके पुत्र और पतोहू दोनों को उठा ले गया।

झोपड़े के सामने नीम का एक पेड़ है। उसे बुधनी के पति ने अपने हाथ से लगाया था। नीम में पतझड़ आता, नयी कोपलें निकलतीं, फूल

निकलते, फल आते और अन्त में झड़ जाते। प्रकृति का चरखा तो रात दिन चलता ही रहता है। बुधनी कभी उस नीम पर ध्यान देती, तो उसे हाथ में घड़ा लिए नीम के थाले में पानी डालते हुए उसके पति की छाया-मूर्ति दिखायी पड़ती। उस समय वह एक गहरी सांस लेती और फिर घर के किसी धन्धे में लग जाती।

सचमुच उसे विश्वास हो चुका था कि वह किनारे पहुँच चुकी है। पूत-पतोहू दोनों दिन भर मजूरी करते थे। शाम को चूल्हे में कंडे सुलगाकर मोटी-मोटी रोटियाँ सेंक लेते और हँड़िया में साग उबालकर कभी-कभी नमक न रहता तो अलोने ही खा-पीकर सो रहते थे। और पेट भरने भर के लिए नहीं, बल्कि जीवित रहने भर के लिए वे बुधनी को भी साग-रोटी देकर वृद्धा माता के प्रति अपना धर्म-पालन कर लिया करते थे।

बुधनी को अब काम ही क्या था? एक ही धोती पहनते हुए उसे तीन बरस हो चुके थे। वह सड़ गई थी और जरा-सा भी खिंचाव पड़ते ही हाहाकार कर उठती थी। बुढ़िया दिन भर उसे सीने में लगी रहती थी। किसी दिन कुछ समय बचता, तो नातियों को खेला लेती थी।

उसका दिन-रात का साथी एक डंडा था, जिसे वह रात में सोते समय भी पास रखती थी; क्योंकि उसी के भय से कुत्ते झोपड़े में घुसकर उसके नातियों के लिए रक्खी हुई रोटियाँ छूने का साहस नहीं करते थे।

बुधनी सत्तर को पार कर चुकी थी और अस्सी के निकट थी। उसके दो नातियों में से एक दो बरस का था, दूसरा तीन बरस का। एक दिन पहर भर दिन चढ़ते-चढ़ते बुधनी को फिर अपनी नाव किनारे से हटा अथाह, अपार, अशांत समुद्र की ओर खेनी पड़ी।

उसके पुत्र और पतोहू दोनो को प्लेग हुआ और वे चल बसे। बस्ती के लोगों को यह खबर लगी, तो वे बुधनी पर दया करके नहीं, बल्कि लाशें पड़ी-पड़ी सड़ जायँगी तो महामारी की देवी और भी कोप करेंगी, इसी भय से आए और खाट-खटोले तथा उन पर बिछे हुए चिथड़ों-सहित लाशों

को उठाकर बस्ती से दूर किसी नाले-खोहे में फेंक आए। उन लोगों ने अपना इतना ही कर्त्तव्य समझा।

बस्ती से बाहर नीम का एक पेड़, उसके नीचे एक झोपड़ा, उसमें दो छोटे-छोटे बच्चे और अस्सी बरस तक संसार से लड़कर थकी हुई एक बुढ़िया, ऊपर आकाश, नीचे पृथ्वी, आगे-पीछे कोई नहीं।

झोपड़े के अन्दर एक खाट बची थी, एक खटोला और थोड़े-से चिथड़े, जो बिछौने का काम देते थे। गाँववाले बाकी सब चीजों को समेटकर फेंक आए। अब मिट्टी का एक कोठला* और बच रहा था, जिसे अनाज रखने के लिए उसके पुत्र और पतोहू ने मिलकर कई दिनों में पास के एक गढ्ढे से कनई (गीली चिकनी मिट्टी) लाकर बनाया था। पर अभी तक उसमें अनाज नहीं रक्खा गया था; क्योंकि उन्होंने सोचा था कि कभी खाने-पीने से कुछ पैसे बच रहेंगे, तो उनसे अनाज खरीद कर इस कोठिले को भरेंगे। लेकिन न तो कभी कुछ बचा और न कोठिले की साइत हुई।

एक बार तो पुत्र और पतोहू की मृत्यु से बुधनी विचलित हुई। दो बच्चे उसके सामने ही थे, जो यह समझ न सके थे कि उनके माँ-बाप अब उस झोपड़े में फिर कभी न दिखाई पड़ेंगे।

दोपहर ढल चुकी थी। बच्चे भूखे थे। 'माँ-माँ' पुकार रहे थे। बुधनी की छाती फटी जाती थी। वह उठी और झोपड़े का कोना-कोना टटोलने लगी। दस-पन्द्रह बरस हो गए थे, वह उस झोपड़े में सिर्फ रोटी खाने के लिए ही जाती थी। नहीं तो सरदी, गरमी और बरसात उसने झोपड़े के बाहर पति की लगाई हुई नीम की छाया में, कभी जमीन पर, कभी पयाल बिछाकर और कभी साँवाँ, मकरा और जौ-गेहूँ के डंठलों पर लेट-

---

*गरीबों के घरों में मिट्टी का बना हुआ, एक हाथ से लेकर डेढ़-दो हाथ व्यास का अनाज रखने का पात्र, जिसके मुंह पर मिट्टी ही का ढक्कन होता है, और पेंदी के पास हाथ डालकर अनाज निकालने के लिए एक छेद होता है।

कर काट दी थी। झोपड़ा उसके लिए एक अजनबी का घर-सा हो गया था।

एक कोने में एक मोटी रोटी एक खपड़े पर रक्खी हुई और ऊपर से तसले से ढकी हुई मिली। बुधनी ने आधी रोटी तोड़कर, फिर उसके दो हिस्से करके, बच्चों को दिया।

झोपड़े से थोड़ी ही दूर पर उसके पुत्र और पतोहू ने मिलकर एक कुइयाँ खोदी थी। बुधनी लोटा और डोर उठाकर पानी भरने चली। कुइयाँ के किनारे बैठकर लोटे को उसने अन्दर लटकाया। अब वह अपने को न सँभाल सकी। हृदय उमड़ आया। आह! संसार में यह कैसी सुन्दर घटना होती, यदि उस समय उसका लड़का रोज की तरह कहता हुआ आ जाता कि––माँ, ठहर, मैं पानी खीचे देता हूँ। उसकी आँखों मे आँसुओं की धारा बह चली।

एक हाथ से डोर पकड़े हुए वह दूसरे हाथ मे अँचल उठाकर आँसू पोंछने लगी। कुइयाँ के भीतर झाँककर उसने लोटे को डुबकी दी तो दो बूंद आँसू उसके भीतर भी जा पड़े।

पानी लाकर बच्चों को खिला-पिलाकर वह निश्चिन्त हुई। उस दिन उसने स्वयं न तो कुछ खाया, न पिया। बच्चे बार-बार उससे अपने माँ-बाप को पूछते रहे।

बुढ़िया कुछ बोलना चाहती, तो उसका हृदय उमड़ आता, कंठ रुक जाता, और मुंह से बात नहीं निकल पाती थी।

बची हुई रोटी रात में बच्चों को खिला-पिलाकर बुधनी ने उन्हें जमीन पर सुला दिया। बच्चे सो गए। बुधनी सारी रात बैठकर अपने बीते हुए जीवन के दुःखों के चित्र देखने लगी। एक ही जीवन में उसने कितने संकट झेले थे!

अन्त में उसे स्मरण आया कि बच्चे सबेरे उठते ही रोटी माँगने लगेंगे, तब क्या दूंगी। फिर उसकी छाती सिहर उठी।

दो घड़ी रात बाकी थी। बुढ़िया उठी। निर्भय, निर्दोष और निश्चिन्त

सोते हुए दोनों बच्चों को उसने उठाया और कोठिले में बिठा कर ऊपर से ढक्कन रख दिया। ऐसा उसने इस विचार से किया कि उसकी अनुपस्थिति में बच्चे कहीं बाहर निकल कर कुइयाँ में न गिर पड़ें, या कुत्ते और सियार उन्हें काट न लें, या माँ, माँ पुकारते हुए वे बहककर कहीं इतनी दूर न चले जायँ कि उन्हें खोजने में उसे हैरान होना पड़े।

बच्चों को कोठिले में बैठाकर वह डंडा लेकर झोपड़े से बाहर निकली। थोड़ी ही दूर पर एक दूसरा गाँव था, जिसमें कुछ खुशहाल गृहस्थों के घर थे। बुढ़िया ने उस दिन जिन्दगी में पहले-पहल भीख माँगने का काम शुरू किया। गाँव में बुढ़िया के संकट की खबर पहुँच चुकी थी। इससे उस दिन लोगों ने सहानुभूति के वचनों के साथ उसे जल्दी ही भीख दे दी।

दो-तीन घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते बुढ़िया अपने झोपड़े में आ पहुँची। बच्चे अभी तक कोठिले में बैठे-बैठे एक दूसरे से लिपटे हुए सोए हुए थे। बुधनी ने उन्हें जगाया, बाहर निकाला और फिर वह भीख में पाए हुए अन्न को लेकर चक्की पर गयी। पतोहू के आने के बाद से उसने यह काम भी छोड़ दिया था। आज उसे फिर हाथ में लेना पड़ा। चक्की का हत्था हाथ में लेते ही वह रो पड़ी और उसी हत्थे के सिर पर माथा टेककर देर तक रोती रही।

इतने में बच्चों ने पुकारा—'माँ।' बुधनी का कलेजा धक् से हो गया। कहीं उसके बेटे-पतोहू आ तो नहीं गए! उसने सुन रक्खा था कि प्लेग से मरे हुए बहुत से लोग श्मशान से लौट आते हैं। वह उठकर बाहर गई, इधर-उधर झाँका, पर ममता के एक धोखे के सिवा वहाँ कुछ न था।

किसी तरह पीस-पोकर उसने बच्चों को खिलाया-पिलाया। स्वयं भी दो दिनों से भूखी थी। रोटी का एक टुकड़ा खा-पीकर उसने चित्त को जरा ठिकाने किया।

बच्चों की चिन्ता में रहना अब उसका रात-दिन का काम हो गया। सबेरे बच्चों को कोठिले में बन्द करके वह भीख माँगने निकल जाया करती और पहर दिन चढ़े तक लौट आया करती थी।

भीख माँगना भी एक कला है। बुधनी को यह कला लगभग अस्सी की उम्र में सीखनी पड़ी। इससे वह बहुत चतुर भिखमंगिन न बन सकी। उसके फटे-पुराने कपड़े, झुर्रियों से भरा हुआ दुबला-पतला शरीर और सच्ची दीनता से भरी हुई पुकार ही देखने और सुननेवालों में कुछ दया उत्पन्न कर देती थी। पर धीरे-धीरे लोग इस दया से अभ्यस्त हो गए और यह दया भी 'अतिपरिचयादवज्ञा' के सत्य में अन्तर्हित हो गई।

बच्चों को छोड़कर अधिक देर बुधनी बाहर नहीं रह सकती थी। पर अब गाँववाले उसे भीख देने में आनाकानी भी करने लगे थे। इससे एक दिन उसने सोचा कि इलाहाबाद शहर नजदीक है, वहाँ चलकर भीख माँगनी चाहिए।

इलाहाबाद शहर बम्हरौली से सात मील दूर है। बुढिया रात ढलते ही उठी। सोते हुए बच्चों को उठाकर उसने कोठिले में रक्खा और उनके पास एक लोटा पानी और एक मोटी रोटी रख कर, कोठिले का मुंह ढक्कन से बन्द करके, झोपड़े के दरवाजे पर टाटी लगाकर, वह इलाहाबाद शहर की तरफ चल पड़ी।

सबेरा होते-होते वह शहर में पहुँच गयी। वह दिन भर पैसे माँगती रही। शाम तक उसे आठ आने मिले। शाम होते-होते वह फिर बच्चों की ओर झपटी। आधी रात होते-होते वह घर पहुँची, रास्ते के एक बनिए से कुछ अनाज लेती गयी। उसे पीसकर, रोटियाँ बनाकर बच्चों को खिला-पिला और सुलाकर तब उसने अपने दाँतों के नीचे रोटी का टुकड़ा जाने दिया।

अब उसका यह क्रम चला। आठ आने पैसे छः-सात दिन के लिए काफी होते थे। सातवें दिन वह फिर इलाहाबाद में, जानसेनगंज की सड़क पर, एक खास मर्मवेधी स्वर में, भीख माँगती हुई दिखाई पड़ती।

हाय! वे बच्चे! हर सातवें दिन रात में एक बजे से एक कोठिले में कस दिये जाते थे। जब तक नींद रहती, एक दूसरे से गुंथे हुए सोते रहते। आँखें खुलतीं, तो एक दूसरे को टुकुर-टुकुर ताका करते। प्यास लगती,

तो दोनों एक ही लोटे में पानी पीते। भूख लगती, तो मोटी रोटी बाँटक
खाते। कोठिले में वे न बातें करते, न हँसते, न खड़े हो सकते और न खे
कूद सकते थे। वे दिन-भर उसी में कैद रहते।

शाम ही से उनके कान झोपड़े के दरवाजे पर लगे रहते। आधी रा
होते-होते बुढ़िया घर आती, तब बच्चे बेचारे उसी कोठिले में कसे हु
सोते मिलते। उस समय वे निकाले जाते, और उन्हें ताजी हवा मिलती

एक दिन बुढ़िया इलाहाबाद आई। मैं (लेखक) अपने मकान के साम
फुटपाथ पर टहल रहा था। बुढ़िया ने सामने आकर एक पैसा माँगा
कुछ भिखमंगों को पैसा जमा करने की आदत होती है। भूखे-प्यासे हो
पर भी वे उसे खर्च नहीं करते। मैं झुंझला उठा। मैंने कहा—बुढ़ि
अब तक जो जमा किये हो, खा डालो, उम्र बीत गई है, पीछे कौन खायगा
बुढ़िया बैठगई, रोने लगी। मैंने समझा, पैसा माँगने का यह ढोंग है
मैंने कहा—आटा दिलादूं? बुढ़िया ने कहा—बहुत दूर ले जाना पड़ेग
बाबू जी! अब कुछ भी बोझ लेकर चला नहीं जाता।

इसके बाद बुढ़िया ने अपना सारा हाल कह सुनाया। मैंने उसे कु
पैसे तो दे दिये, पर मुझे उसकी बातों पर विस्वास नहीं हुआ। बम्हरौल
रेलवे स्टेशन है। एक दिन मैं उसकी बातों की सचाई का पता लेने चल
गया। उसने जितनी बातें बताई थीं, सब सच निकलीं; बल्कि कुछ औ
भी, जिन्हें वह समझ ही न पाती होगी।

गाँवों में कितने लोग कैसे-कैसे दुःख भोग रहे हैं, जिनकी कोई खब
लेनेवाला नहीं। एक दिन मैंने बुढ़िया का हाल डाक्टर कैलाशनाथ काट
को (भारत सरकार के वर्तमान कानून मंत्री, जो उस समय इलाहाबा
हाईकोर्ट के एडवोकेट थे) सुनाई। वे दया से द्रवीभूत हो गये। उन्हो
बुढ़िया को धोती, कंबल और कुछ दिनों के खाने के लिय पंद्रह रुपये दि
और चाहा कि दोनों बच्चे उन्हें दे दिये जायँ, तो वे पाल देंगे। मैंने बुढ़ि
से कहा। उसने उत्तर दिया—वे बच्चे ही तो मेरे बेटे की यादगार है
उन्हें मैं जीते जी आँखों से ओझल नहीं होने दूंगी।

बुढ़िया की कहानी मैंने हिन्दी की एक मासिक पत्रिका को लिखकर भेजी। वहाँ से मेरे नाम सात रुपये का मनीआर्डर आया। मुझे सभ्य संसार पर हँसी आयी, जो वास्तव में दुःखी है, उसके पास तो कोई नहीं पहुँचता। जो आराम से बैठकर उस दुःख को लिख डालता है, उसे रुपये मिल जाते हैं। एक दिन बुढ़िया पैसा माँगती हुई मिली, मैंने सातो रुपये उसे दे दिया।

बुढ़िया हर हफ्ते इलाहाबाद आती रहती। एक दिन इलाहाबाद में उससे मैंने पूछा—तुम बच्चों को इस तरह कोठिले में बंद करके आती हो, कहीं तुम रास्ते ही में किसी दिन मर जाओ या और किसी कारण से दो-चार दिन घर न पहुँच सको, तो उन बच्चों की क्या दशा होगी? बुढ़िया ने कुछ चकित-सी होकर कहा—अरे, यह सोचने की तो मुझे अभी तक फुरसत ही न मिली। और यह कहकर वह बैठकर रोने लगी।

सचमुच एक दिन वह आशंका सामने आ ही गई। बरसात के दिन थे। आकाश काले बादलों से ढका हुआ था। हवा तेज थी। बुढ़िया सदा की भाँति सातवें दिन इलाहाबाद भीख माँगने आई थी। किसी ने उसे थोड़ा-सा आटा भी दे दिया था। वह बुढ़िया के आँचल में बँधा हुआ उसकी एक काँख के नीचे था शाम होते-होते बुढ़िया शहर से बाहर हो गयी।

रात एक पहर से ज्यादा जा चुकी थी। छम्-छम् पानी बरस रहा था। हवा हू-हू करके पेड़-पौदों को झकझोरती हुई बह रही थी। बादल भयानक रूप से गरज रहे थे और बिजली क्षण-क्षण पर चमक जाती थी।

बुढ़िया राह में थी। अंधकार से रास्ता दिखायी न पड़ता था। बुढ़ापे का साथी डंडा हाथ में था। उसी के सहारे बुढ़िया अपने लक्ष्य पर चली जा रही थी। एक बार उसने सोचा कि आज की रात रामलाल तिवारी के ओसारे में बिता दूँ। पर वहीं जैसे किसी ने कहा—उन बच्चों का क्या होगा?

बुढ़िया आगे बढ़ी। प्रकृति का रौद्र रूप अधिक भयानक हो चला। थोड़ी ही दूर और जाने पर आकाश में भयानक गर्जना हुई और पास के

एक वृक्ष पर विजली गिरी। बुढ़िया एक पेड़ के नीचे ठहर गयी। काँख के नीचे दबा हुआ आटा भीगने लगा था। वह सोच रही थी कि भीगने दो, घर पहुँचकर आज ही सबकी रोटियाँ बना लूंगी।

झोपड़े के ऊपर भी हवा का प्रहार चल रहा था। टाटी के छेदों से दानव की तरह भयानक चीत्कार करती हुई हवा जब निकलती थी, तब डर के मारे उन बच्चों के रोएँ खड़े हो जाते थे। उनके कान किसी आहट के लिए आतुर हो रहे थे। बुढ़िया झोपड़े के पास पहुँचते ही पुकारा करती थी--बच्चा ? --! आज यह शब्द जल्दी सुनने के लिए बच्चे लालायित हो रहे थे।

ऐसे भयानक समय में बुढ़िया अपने प्यारे बच्चों से दूर कैसे रह सकती थी ! प्रेम ने प्रकृति का सामना किया। बुढ़िया हवा, पानी, बिजली और अंधकार से युद्ध करती, पद-पद पर प्रकृति को परास्त करती हुई आगे बढ़ी। पानी से वह तर हो रही थी। उसकी आँखों में बच्चों के प्रेम का प्रकाश था, उसकी टाँगों में बच्चों के प्रेम का बल था, उसके हृदय में बच्चों के प्रेम का आकर्षण था। वह चलती ही रही। अपने शरीर की उसे सुध नहीं थी। उसे किसी की सुध नहीं थी। केवल एक ही सुध थी--बच्चे मेरी बाट जोहते होंगे।

प्रकृति के भयानक विक्षुब्ध समुद्र को चीरती-फाड़ती बुढ़िया चली जा रही थी। उसके शरीर में अंतिम काल की स्फूर्ति आ गयी थी। आधी रात होते-होते बच्चों के प्रेम में उन्मत्त वह बुढिया पति की लगायी हुई नीम के नीचे पहुँची और अपनी सारी शक्ति समेटकर उसने पुकारा--'बच्चा !'

यही उसका अंतिम शब्द था। वह गिर पड़ी और चल बसी।

पर उन बच्चों का क्या हुआ ?

नई बहू पुरानी सास

दिल्ली की बात है। सन् १९२८ में मैं राजपूताने की गीत-यात्रा करके लौट रहा था, और मित्रों से मिलने और दिल्ली की सैर के लिए मैं वहाँ उतर गया था। पतझड़ का समय था। दिन भर कुतुबमीनार, युधिष्ठिर का किला, फिरीजशाह की लाट, हुमायूं का मकबरा आदि की सैर करके शाम को मैं शहर में लौट आया था। चाँदनी चौक में काफी चहल-पहल थी।

मैं जिस ताँगे पर कुतुब आदि की सैर के लिए गया था, उसी पर एक सज्जन और भी थे जो पंजाब के किसी जिले के निवासी थे। लिखे-पढ़े, अप-टू-डेट, पर वर्तमान सभ्यता से कुछ झुंझलाए हुए-से थे। उनका नाम था—लाला रलियाराम। वे भी सैर-सपाटे ही के लिए दिल्ली आए थे। उनकी अवस्था रही होगी तीस-बत्तीस वर्ष की।

हम लोग दिन भर साथ रहे। ताँगे पर खूब बातें हुईं। समाज और राजनीति सम्बन्धी शायद ही कोई विषय छूटा हो। सैर-सपाटे की भी चर्चा हुई। वे भी खूब घूमे-घामे थे। काश्मीर की बात हुईं, काठियावाड़ और दक्षिण भारत के किस्से हुये, मतलब यह कि हम दोनों पर एक दूसरे का रंग अच्छा जम गया था।

चाँदनी चौक से हम लोग मलिका गार्डन की ओर चले गए और एक बड़े वृक्ष की छाया में, एकान्त देखकर, हरी-हरी मुलायम कटी हुई घास पर बैठ गए। दिन भर घूमते-घूमते मैं थक-सा गया था। इससे कोट उतारकर मैं तो घास पर लेट गया। मेरे पंजाबी मित्र मेरे पास बैठे ही रहे।

बातों ही बातों में स्त्री-शिक्षा का प्रसंग फिर छिड़ा। कन्याओं की

शिक्षा के पक्षपाती हम दोनों ही थे, पर मेरे मित्र अंग्रेजी ढंग की शिक्षा से बहुत घबराते थे। उन्होंने अंग्रेजी ढंग की शिक्षा पाई हुई कई कन्याओं के पतन और उनके द्वारा उनके पति की गृहस्थी के चौपट हो जाने की भयानक कथायें सुनाई।

मैं दूसरे पक्ष पर था। मैंने कई ऐसे उदाहरण दिए, जिनमें पढ़ी-लिखी कन्याओं ने उजड़ते हुए घर को फिर से बसाकर उसे सुख से भर दिया था।

बाहर से तो वे मेरी बातें ध्यान से सुनते थे, पर मुझे ऐसा लगता था कि बीच-बीच में उनका मन कहीं उड़ जाया करता था। उन्होंने बीच में दो-तीन बार गहरी साँसें भी खींचीं और कई बार अन्यमनस्क-सा होकर वे जमीन पर दृष्टि गड़ाकर, देखने भी लगे थे।

दिन भर तो मैं दिल्ली के पुराने वैभव के देखने में लगा रहा। इससे लाला रलियाराम के मन की व्यथा जानने का मुझे ध्यान भी न आया। इस समय मैं लेटा था, वे सामने बैठे थे। मैं उनके चेहरे का उतार-चढ़ाव ध्यान से देख रहा था और बातें भी करता जाता था। अब मैंने समझा कि उनके मन में कोई मार्मिक पीड़ा है, जो रह-रहकर उठ खड़ी होती है। मेरी कहानियाँ भी समाप्त हो चली थीं और उनकी अन्यमनस्कता देखकर मैंने जल्दी ही उन्हें समाप्त कर भी डाला था। मैंने साहस करके पूछ ही तो लिया—लालाजी, क्षमा कीजिएगा, मुझे ऐसा लग रहा है कि आपके मन में कोई गहरी व्यथा है।

लाला रलियाराम ने मेरी ओर कोमल दृष्टि से देखा और कहा—आपके साथ मैं आज का सारा दिन बिता चुका हूँ। बहुत-सी बात भी कर चुका हूँ। खा-पी भी चुका हूँ। इससे आपको अपने मन का दुःख बताने में मैं संकोच न करूँगा।

सचमुच दुःखी को अपने मन की वेदना सुनाने का शौक होता है। दुःख सुनाने से घट जाता है, दुःखी लोग ऐसा अनुभव बताया भी करते हैं।

मैंने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—दुःख-सुख तो लालाजी!

जन्म से मनुष्य के साथ लगे हुये हैं। पर आप जैसे विचारवान् पुरुष का दुःख साधारण दुःख न होगा, यह मैं मानता हूँ। मुझे आप अपना दुःख सुनाने के योग्य मानते हैं, यह आपके हृदय की विशालता है। अपने मन का दुःख और सुख लोग घनिष्ट मित्र ही को सुनाया करते हैं।

लाला रलियाराम ने मेरी बातों से सुख-सा अनुभव करते हुए कहा—अवश्य ही मैं आपको अपना दुःख सुनाकर सुखी होऊँगा। और मेरी कहानी कन्याओं की शिक्षा-प्रणाली पर भी अच्छा प्रकाश डालेगी, जो इस समय मेरे और आप के बीच विवाद का विषय है।

मैं अब पहले से कुछ अधिक आकर्षित हुआ। लाला रलियाराम कहने लगे—

मैं फीरोजपुर जिले का रहनेवाला हूँ। मैंने दिल्ली में शिक्षा पाई थी। शिक्षा समाप्त होते-होते मेरे पिता का देहान्त हो गया। मैं अपने पिता का एकलौता पुत्र हूँ। पिता की मृत्यु का समाचार पाकर मैं घर गया। देखा कि माँ बहुत दुःखी है। मेरे पिता किसी तरह घर का और मेरी शिक्षा का खर्च चलाते थे। इतनी आमदनी नहीं थी कि वे कुछ बचा सकते। इससे माँ का हाथ खाली ही था।

मैंने नौकरी कर सकने के सिवा ऐसा कोई धंधा सीखा ही नहीं था; या मुझे सिखाया ही नहीं गया था, जिससे गाँव में रहकर मैं चार पैसे कमा सकता। और होस्टल में या शहर के किसी पक्के मकान में चार-छः बरस बितानेवाले विद्यार्थी का मन गाँव के कच्चे मकान, गंदी गलियों और देहात के असभ्य या अर्द्धसभ्य मनुष्यों में लग ही कैसे सकता था। दो-तीन महीने किसी तरह गाँव में काटकर मैं माँ को लेकर दिल्ली आ गया।

यहाँ उन दिनों के दुःखों को याद करके लाला रलियाराम को कुछ व्याकुलता-सी बोध हुई और वे थोड़ा-सा विश्राम लेकर फिर कहने लगे—

विद्यार्थी-जीवन ही से मैं आर्य-समाज में जाने-आने लगा था। इससे शहर के प्रमुख आर्य-समाजियों से मेरा अच्छा परिचय हो गया था। आर्य-

समाजी मित्रों की मदद से मुझे पचास रुपए महीने की एक नौकरी मिल गई। मैं दस रूपए महीने का एक मकान भाड़े पर लेकर माँ के साथ उसमें रहने लगा।

मकान पुराना था। दिल्ली ऐसे बड़े शहर में दस रूपए महीने का मकान जानवरों के घर से भी बदतर होता है। खैर, शहर के और भी तो खर्चे हैं। केवल मकान ही पर अधिक खर्च कैसे किया जाता? शहरों में घर से बाहर निकलते ही पैसे जेब से कूद-कूदकर निकल पड़ते हैं। खाने-पीने का खर्च तो जैसा देहात में, वैसा ही शहर में भी होता है। पर शहर के बाहरी खर्चे इतने अधिक होते हैं, जो कमाई का सारा पैसा सोख जाते हैं। रोज साफ धुले हुए कपड़े चाहिए; खुद चाहे न खाय, पर आए-गए मित्रों के लिए जलपान और पान चाहिए; इक्के, ताँगे और ट्राम का खर्च भी कुछ न कुछ लग ही जाता है, नए-नए सिनेमा और नाटक आते ही रहते हैं। कितना ही मन को रोके, पर महीने में एक बार भी मन न बहलाए तो लगातार परिश्रम करते-करते सिनेमा और थियेटर से दस गुना पैसा डाक्टर ले लेता है। मतलब यह कि पचास रुपए महीने से मैं बहुत कम बचा पाता था।

लाला रलियाराम ने यहाँ फिर गहरी साँस ली। जागती हुई किसी व्यथा को थपकी देकर वे फिर आगे बढ़े—

माँ चौका-बरतन कर लेती, घर में झाड़ू लगा लेती और दोनों वक्त रसोई भी बना लेती थी। मैंने कई बार कहा कि चौका-बरतन के लिए महल्ले में काम करनेवाली किसी मजदूरिन से तै कर लो। माँ हमेशा यह कहकर टालती रही कि बेटा! मैं गाँव में रहती आई हूँ। वहाँ दिन भर काम करती थी, इससे मेहनत करने की मेरी आदत पड़ी हुई है। चौका-बरतन और रोटी-पानी के बहाने इधर-उधर घूम-फिर लेती हूँ, हाथ-पैर हिला लेती हूँ, इससे मेरा शरीर ठीक रहता है। शहर में आने से चक्की तो छूट ही गई, चरखा घर से ले ही नहीं आई, चूल्हा भी मुझसे

छड़ा लोगे तो म लूली-लँगड़ी की तरह अपाहिज होकर बैठ जाऊँगी, बीमार हो जाऊँगी और जल्दी ही मर भी जाऊँगी।

माँ के लिए मेरे मन में बड़ी श्रद्धा थी। मुझे उसका चौका-बरतन करना प्रिय नहीं लगता था। पर मैं उसके मेहनती स्वभाव से पहले ही से परिचित था और उसी की तरह मैं भी समझता कि शहर में बाहर बैठने-उठने की न कहीं जगह, न खुले खेतों की ताजी हवा, ऐसी हालत कैदी की तरह घर में बैठे रहने से तो सचमुच उसका स्वास्थ्य खराब ही हो जायगा। इससे मैं ज्यादा आग्रह नहीं करता था।

एक दिन मेरे एक आर्य-समाजी मित्र एक अन्य सज्जन को लेकर आए। उनकी बातों से मुझे मालूम हुआ कि वे अपनी कन्या के लिए वर ढूंढने निकले हैं और मेरे मित्र से सूचना पाकर मुझे देखने आए हैं। उन्होंने मुझे पसन्द किया। लड़की के बारे में उन्होंने मुझे बताया कि वह एक आर्य-कन्या-विद्यालय में उच्च श्रेणी तक शिक्षा पा चुकी है। संस्कृत और हिन्दी का उसे अच्छा ज्ञान है। अँग्रेजी भी काम-चलाऊ जानती है। घर के काम-काज में बड़ी होशियार है। आयु अठारह वर्ष के लगभग है। उस समय मेरी आयु पचीस वर्ष से दो-तीन महीने अधिक हो रही थी।

मेरे आर्यसमाजी मित्र ने मेरी स्वीकृति माँगी। मैंने इस सम्बन्ध में माँ से पूछ कर उनको अपनी स्वीकृति दे दी।

यहाँ एक साँस खींचकर वे फिर कहने लगे—

अब मैं अपने उस मकान का कुछ हाल और कह लेना चाहता हूँ। उस मकान में एक छोटा-सा बैठका सड़क के किनारे था, उसी में होकर आँगन में जाने का रास्ता था। आँगन के एक कोने में पाखाना था, दूसरे कोने में टीन से छाया हुआ रसोई-घर। रसोई-घर और पाखाने के बीच में पानी का बम्बा था। आँगन के दूसरे किनारे एक लम्बा-सा दालान था, उसी में से ऊपर जाने का जीना था। ऊपर दो कमरे थे। एक छोटा कमरा दालान की छत के आधे हिस्से में और दूसरा बैठक के ऊपर उससे बड़ा था।

माँ छोटे कमरे में रहती थी और मैं बैठक के ऊपर वाले बड़े कमरे नीचे के दालान में लकडी वगैरह अटखर-बटखर सामान पड़े थे ।

विवाह की बात पक्की हो जाने पर एक दिन आफिस से आकर मैंने देखा कि माँ ने ऊपरवाला कमरा खाली कर दिया है। और उसे झाड़ पोंछकर, जहाँ तक हो सका, सुन्दर भी कर दिया है। माँ ने कहा—बेटा ! तुम इसमें आ जाओ और बहू को बड़ा कमरा दे दो। उसको अपनी चीज-वस्तु रखने के लिए ज्यादा जगह चाहिए।

माँ ने अपने लिए दालान में लकड़ी हटाकर जगह कर ली थी। मैंने दालान में आकर देखा तो वहाँ सील थी। फर्श भी कई जगह उखड़ गई थी माँ का इतना प्रेम बहू पर अभी से देखकर मेरा हृदय उमड़ आया। मैंने कहा—माँ, तुम ऊपर रहो। यहाँ तुमको तकलीफ होगी।

ऐसे मौकों पर स्त्रियों की स्मरण-शक्ति बहुत व्यापक हो जाती है। माँ ने कहा—बेटा ! मै तो मसान के रास्ते पर हूँ। मेरी चिन्ता छोड़ो। मैं अपनी आँखों से तुम दोनों को सुख से रहते हुए देख लूं, अब मेरी यही लालसा है। कहीं तुम्हारे पिता जी जीवित होते तो आज उनको सुख होता !

माँ की आँखों से आँसू बह चले। मैं भी अपने को थाम न सका और ऊपर जाकर बहुत देर तक कुर्सी पर पड़े-पडे अपने बचपन से लेकर अबतक के जीवन में डूबा रहा। मैंने निश्चय कर लिया कि अब हम अपनी सुशिक्षिता धर्मपत्नी-सहित माँ की अधिक से अधिक सेवा करेंगे।

माँ ने रसोई बनाकर खाने के लिए पुकारा, तब मेरी मोह-निद्रा टूटी। मैं रसोई-घर में गया। माँ की सौम्य मूर्ति मुझे भोजन कराने लगी। उस दिन माँ के हाथ का भोजन मुझे अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट जान पड़ा। बहू के आने तक मेरे आग्रह से माँ ऊपर ही रहती रही।

मेरे विवाह का दिन निश्चित हुआ। विवाह हो भी गया।

मेरी स्त्री का नाम पिता के घर में कुछ और था। पर मैंने बुलाने के लिए उसका नाम 'रोमा' रख लिया।

मैंने कहा——यह नाम आप ने शायद हालकेन के 'इटरनलसिटी' में से लिया होगा।

उन्होंने कहा——हाँ, यह नाम मुझे बहुत प्यारा लगता है। और उस उपन्यास में रोमा का चरित्र बहुत मर्मस्पर्शी है भी।

आर्य-समाज-मदिर ही मे मेरी स्त्री की पहली मुलाकात माँ से हुई। वहीं से वह कुछ दिनों के लिए एक बार अपने पिता से साथ घर चली गई थी। मै माँ की सम्मति से घर में सब ठीक-ठाक करके एक दिन उसे जाकर ले आया।

रोमा देखने में सुन्दर थी। इकहरा बदन, गोरा रंग, बड़े-बड़े नेत्र, सुडौल नाक. गोलाई लिए हुए कुछ लम्बा चेहरा, छोटे-छोटे मोती जैसे सफेद दाँत और लम्बे घने बाल उसके शरीर के अलंकार थे।

छुट्टी का दिन था। बहू को ऊपर के कमरे में पहुँचाकर, उसकी चीजों को कायदे से रखवाकर, मैं नीचे आया। माँ ने कहा——बेटा! बहू लक्ष्मी है, तुम बहुत सुख पाओगे।

मैंने देखा, माँ की आँखों में मेरे भावी सुख का हर्ष उमड़ आया था।

मैंने कुछ नहीं कहा और शाक-सब्जी के लिए मैं बाहर चला गया।

उस दिन से उस घर में हम तीन प्राणी हुए। मैं अब माँ का विशेष ध्यान रखने लगा। कहीं उसको यह न अखरे कि मैं नई बहू के प्रेम में उसे भूल गया।

चौका-बरतन के लिए मैंने नौकरानी रखने की बात माँ से फिर चलाई। माँ ने फिर वही उत्तर दिया। बहू की जूठी थाली और गिलास माँ माँजे, यह मुझे सह्य नहीं था। बहू को चौका-बरतन का अभ्यास नहीं था। और वह अभी नई थी, इससे उसे कुछ कहना भी ठीक नहीं था। मैंने माँ की एक न सुनी और दो ही तीन दिन बाद मुहल्ले में चौका-बरतन करनेवाली एक नौकरानी को दो रुपए महीने पर मैंने पक्का कर लिया। वह दोनों वक्त चौका-बरतन कर जाती और नीचे के दालान और आँगन में झाड़ू भी लगा जाती थी।

माँ ने एक दिन कहा—–बेटा! अब तुम्हें खर्च बढ़ाना नहीं चाहिए। बहू क्या कोई गैर है उसका जूठा बरतन माँज लेने में मुझे क्या कोई शर्म है।

खैर, नौकरानी के बारे में मेरा ही हठ कायम रहा। बहू को आए पन्द्रह-बीस दिन हो गए। उसकी दिन-चर्या हम लोगों से बिल्कुल अलग थी। वह सबेरे उठती, शौच, स्नान आदि से छुट्टी पाकर अपने कमरे में जाती। पिता के घर से वह एक डब्बे में कुछ मिठाइयाँ और नमकीन ले आई थी। डब्बे को ट्रंक में ताला लगाकर बन्द कर रक्खा था। डब्बा खोलकर, कुछ मिठाई और नमकीन निकालकर जलपान कर लेती और फिर डब्बे को ट्रंक में बन्द करके ताला लगा देती थी। किसी दिन भी उसने मुझे या माँ को नहीं पूछा। मुझे जरूरत भी नहीं थी, क्योंकि मैं दस बजे आफिस जाता था। नौ साढ़े नौ बजे के बीच में खाना खा लेता था। सबेरे जलपान की आदत नहीं थी। पर आवश्यकता न होने पर भी बहू किसी दिन मुझे या माँ को मिठाई के एक टुकड़े के लिए भी पूछ लेती तो मिठाई से अधिक मुझे उसके स्वभाव की शिष्टता मधुर लगती।

मैंने समझा, बहू को सबेरे जलपान की आदत है, कई दिन की बासी मिठाई और सड़ा हुआ नमकीन कहीं स्वास्थ्य को खराब न कर दे। इससे मैंने एक दिन पुरानी मिठाई और नमकीन को तो नौकरानी को दिला दिया और उसके लिए प्रत्येक दिन आध पाव ताजी जलेबी का प्रबन्ध कर दिया। जलेबी बेचनेवाला रोज सवेरे ताजी जलेबी दे जाने लगा।

खाना माँ ही बनाया करती थी। पन्द्रह-बीस दिन हो गए, बहू ने अपनी कोई भी रुचि घर के काम-काज में नहीं दिखलाई। जलपान कर के वह उपन्यास लेकर बैठ जाती और जब मैं खा-पीकर आफिस चला जाता, तब माँ उसे बुलाती, अपने सामने बैठाकर बारबार पूछकर, आग्रह करके उसे खिलाती-पिलाती, तब आप खाती। बहू खा-पीकर ऊपर जाती और उपन्यास पढ़ती-पढ़ती सो जाती। तीन-चार बजे उठती, तब तक मैं आ जाता। कभी-कभी मैं बाजार से कोई ताजा फल लेता आता और कभी-कभी माँ कुछ बना रखती। वह शाम को भी देर तक उपन्यास

प ती रहती। रात की रसोई में भी वह माँ का हाथ नहीं बटाती थी।

मुझे यह प्रिय नहीं लग रहा था। मैं सोचा करता था कि क्या कन्या विद्यालय में ऐसी ही शिक्षा दी जाती है कि कन्यायें घर-गृहस्थी न चला सकें। मैंने एक दिन बहू से कहा--रोमा! विद्यालय में तुमने खाना बनाना तो सीखा होगा?

रोमा ने कहा--सीखा तो था, पर माताजी बहुत अच्छा खाना बनाती हैं।

मतलब यह कि जब अच्छा खाना बना-बनाया मिल जाता था, तब स्वयं कष्ट उठाने की क्या जरूरत थी।

मैं रोमा का काम से जी लुकाना देखकर उससे मन ही मन विरक्त होने लगा। मुझे अब उसका बाहरी सौन्दर्य आकर्षक नहीं लगता था, क्योंकि उसका भीतर तो सुन्दर था ही नहीं।

यह तो घर की बात हुई। आफिस में बैठे-बैठे भी रोमा से मेरी विरक्ति बढ़ने लगी थी। रोमा के आने के दूसरे ही सप्ताह में मेरे नाम वी० पी० पार्सलों की बाढ़-सी आ गई। कभी चन्द्रकान्ता सन्तति की वी०-पी० है तो कभी किशोर मालती तैल की, कभी खुशबूदार साबुन चले आ रहे हैं तो कभी नए-नए मासिक पत्र। पहले ही महीने में लगभग बीस रुपए की वी० पी० छुड़ाई। वीपियाँ सब मेरे नाम आतीं थीं, और आफिस के पते पर। क्योंकि घर के पते पर आतीं तो दाम कौन देता? आमदनी तो पचास से अधिक थी ही नहीं, खर्च ही के मद बढ़ते जा रहे थे। वी० पी० पार्सलों से मैं इतना भयभीत हो गया था कि पोस्टमैन को अपनी तरफ आता हुआ देखता तो मैं काँप उठता था।

घर आकर देखता तो रोज दो-चार चिठ्ठियाँ आई हुई रहतीं। सबके जवाब भी रोज जाते। मैं आफिस जाने लगता तब दो-चार चिट्ठियाँ मुझे डाक में डाल देने के लिए दे दी जाती थीं। रोमा के पत्र हिन्दुस्तान के हर एक प्रान्त को जाते थे। क्योंकि कन्या विद्यालय में उसकी साथिनें

प्रायः हर एक प्रान्त की थीं। जितना ही उसकी व्यापकता का पता हमें लगता जाता था, उतना ही मैं संकुचित होता जाता था।

अब रोमा का रूप और यौवन नहीं, उसका खर्च मेरा चिन्तनीय विषय हो गया और मेरे हृदय पर उसका सबसे कठिन प्रहार तो चूल्हे-चक्की के काम से उसकी उदासीनता थी।

छुट्टी का दिन था। मैं घर ही पर था। माँ रसोई -घर में थी। रोमा उपन्यास की दुनिया में थी। मुझसे न रहा गया। मैंने उससे कहा—रोमा! मैं तो समझता था, तुम विद्यालय में अच्छा-अच्छा खाना बनाना सीखकर आई हो, कुछ बनाकर खिलाओगी, पर तुमने तो कभी चूल्हे का मुंह भी नहीं झाँका।

रोमा ने उपन्यास पर आँख गड़ाए ही गड़ाए कहा—मेरी वहाँ जाने की जरूरत ही क्या है? खाना अच्छा तो बनता है।

मुझे उसका उत्तर काँटे-सा चुभने लगा। मैंने अपने को सँभाल कर कहा—पर माँ तो वृद्धा हो गई हैं। फिर भी दिन भर हम दोनों की सेवा में लगी रहती हैं। अब तो हमारा धर्म है कि हम उनकी सेवा करें।

रोमा उपन्यास से चिपकी ही रही। उसी दशा में उसने कहा—रोज-रोज रोटी तो मैं नहीं बना सकती।

मैंने कहा—मगर एक वृद्धा से अपनी सेवा लेना तुम्हें कहाँ तक उचित जान पड़ता है?

रोमा ने उसी स्वर में कहा—मैं तुम्हारे घर में रोटी बनाने तो आई नहीं। खर्च न पूरा पड़ता हो तो कहो मैं भी कहीं अध्यापिका का काम करूँ। मेरे वेतन से रसोई बनाने के लिय एक महराजिन रख लो।

मैं रोमा से ऐसे रूखे उत्तर की आशा नहीं रखता था। मैंने कुछ नहीं कहा। अपने कमरे में जाकर, बिछौने पर लेटकर मैं चिन्ता में मग्न हो गया।

रोमा ने न जाने क्या सोचा, उपन्यास रखकर वह उठी और माँ के पास जाकर तरकारी काटने लगी। माँ ने कहा—बेटी! तुम्हारे हाथ

में कहीं चाकू लग जाएगा। मैं तरकारी काट लूंगी, तुम रहने दो।

माँ की बात मैं सुन रहा था। मैं उठ बैठा और छत पर ही से मैंने माँ से कहा--माँ! घर का कुछ काम-काज न करने दोगी तो बैठे-बैठे इसका भी तो स्वास्थ्य खराब हो जायगा।

माँ ने कहा--बेटा! अभी यह बिल्कुल बच्ची है। अभी से इसे काम में जोत दोगे तो यह कौन-सा सुख समझेगी? जब तक मेरा पौरुष चल रहा है, मैं बहू को एक तृण भी न उठाने दूंगी।

मेरा हृदय फिर भारी हो गया। मैं खड़ा न रह सका। बिछौने पर लेट गया और करवट लेकर चुपचाप आँसू बहाने लगा। फिर पता नहीं, बहू कब तक माँ के पास रहने पाई।

मैं सोचने लगा--माँ पढ़ी-लिखी नहीं, पर उसका हृदय तो देखो! स्नेह और ममता से भरा हुआ है। और बहू ऊँचे दर्जे की शिक्षा पाई हुई है। इसका हृदय देखो, मानों मनुष्य के लिए उसमें सहानुभूति की कहीं छाया भी नहीं। क्या उच्च शिक्षा का परिणाम यही होना चाहिए?

जब मैं खाने बैठा, तब भी माँ ने कहा--बेटा! बहू को अभी से तंग मत करो।

मैं खाता जाता था, आँसू बहते जाते थे। मैंने कुछ नहीं कहा। पर रोमा मेरे चित्त से उतर गई थी। मैं सोचने लगा--किसी अपढ़ कन्या से विवाह किए होता तो उसे अपने बड़ों का ख्याल भी होता और वह काम-काज से भी मुंह न चुराती।

खर्च से तंग आकर मैंने सोचा कि महीने की तनख्वाह रोमा के सुपुर्द कर दिया करूँ तो शायद वह समझ-बूझकर खर्च करने लगे। मैंने अगले महीने की तनख्वाह कुल की कुल उसके हाथ पर रख दी और कहा कि इसी में से महीने भर का कुल खर्च चलाना है।

कई दिन बाद एक दिन वह आर्य-समाज में किसी का व्याख्यान सुनने गई थी। वहाँ से वापस आते समय तीस रुपए के लगभग की चीजें वह रास्ते की दूकानों से खरीदती आई। कई जम्फर, एक साड़ी, कंघे, दर्पण,

यालों के सुन्दर-सुन्दर पिन, पन्द्रह रुपए की कलाई की एक घड़ी, स्लीपर, लवेंडर, माथे पर टीका लगाने का लाल रंग, ओठ रंगने का लिपस्टिक, गालों का पाउडर, पोमेड, यहाँ तक कि आँखों में लगाने के लिए विलायती काजल भी उसने खरीदा था।

शाम को मैं घर आया तो माँ ने कहा—बेटा! मैंने बहू के लिए काजल बनाया था, बहू ने उसे वापस कर दिया। यह काजल का काजल है और आँख की दवा भी है। इसके जोर पर मैं अब तक सुई में तागा डाल लेती हूँ। बहू ने बाजार से कोई काजल लिया है। देखना, आँख बड़ी न्यामत है। बिना जाने-बूझे कोई अंजन या काजल आँख में नहीं डालना चाहिए।

मैं सुनी-अनसुनी कर गया। रोमा को मैंने कुछ नहीं कहा। मैं रात-दिन चिन्ता में रहने लगा। रोमा का समय तो उपन्यास में कट जाता था, और मेरा समय माँ और रोमा के स्वभाव का अन्तर निकालने में। मैंने रोमा को कई दिन समझाया भी, ऊँची-नीची सब तरह की बातें उससे कीं, पर वह एक ही जवाब देती थी कि मेरे कारण से किसी को तकलीफ हो तो मैं कहीं अध्यापिका का काम करके अपना जीवन बिता सकती हूँ।

एक दिन मैं आफिस में एक मित्र के यहाँ मिलने चला गया। वहाँ कुछ मित्र और भी जमा थे। शहर में एक नई फिल्म की बड़ी चर्चा थी। दिन की चिन्ता से मैं ऊब गया था। जी बहलाने की जरूरत थी। मित्रों के साथ मैं भी सिनेमा देखने चला गया। वहाँ से रात में नौ बजे के लग-भग लौटा। घर पर आकर देखता हूँ तो दरवाजा खुला हुआ है। घर में घोर अंधकार है। मैं घबरा गया। दो-तीन बार माँ को पुकारा। उत्तर नहीं मिला। मैं जल्दी-जल्दी ऊपर गया। रोमा लालटेन जलाए उपन्यास में बेसुध हो रही थी। मैंने पूछा—माँ कहाँ है?

रोमा ने कहा—मुझे नहीं मालूम।

मुझे बड़ा क्रोध आया। मैंने कहा—नीचे का दरवाजा खुला हुआ

था, कोई आता और बरतन-सरतन उठा ले जाता तो? तुमको इसकी कुछ परवाह नहीं?

मैं यह कहकर नीचे चला गया। रसोई-घर में जाकर दियासलाई ढूंढ़कर लालटेन जलाया। प्रकाश होने पर देखता हूँ तो माँ अपनी खाट पर बेसुध पड़ी थी। मैंने हाथ से टोकर देखा तो जोर का ज्वर चढा था। लालटेन मैंने दूर रख दी और माँ के पास जमीन पर एक बोरा बिछा कर मैं बैठ गया।

मैं सोचने लगा—हाय, माँ इस सीलवाली जगह में रहते-रहते बीमार हो गई, ज्वर में मूर्छित होकर अँधेरे में पड़ी है। मालूम होता है, काम-काज में कुछ थकावट मालूम होने पर सुस्ताने के लिये खाट पर लेट गई। फिर जोर का बुखार चढ़ आया और बेहोश हो गई, नहीं तो माँ दरवाजा खुला हुआ कभी न छोड़ती।

फिर मैं रोमा के विषय में सोचने लगा—हाय! रोमा ऐसी हृदय हीन क्यों है! उसने यहभी नही किया कि नीचे आकर माँ की कुछ खोज-खबर तो लेती। माँ को प्यास लगी होगी, पाखाने-पेशाब की हाजत हुई होगी, दरवाजा बन्द करने की याद आई होगी, उसने किसी को पुकारा होगा, कौन आया होगा! प्यासी ही रह गई होगी। बहू का इस घर में रहना न रहना बराबर है।

रात के दस बजे होंगे। मै अपनी ही उधेड़-बुन में लगा था। इतने में बहू जीने पर जोर-जोर से स्लीपर पटकती हुई उतरी! उसने एक रुपया मेरे सामने फेंक कर कहा—तुम उपवास करोगे तो क्या घर भर उपवास करेगा? जाओ बाजार से कुछ खाने के लिये लाओ।

वह जैसे आई थी, वैसे ही चली गयी। घर भर में कौन? वह अकेली बहू। हम लोग तो कोई पदार्थ ही न थे।

मैं उठा। बाजार गया। बहू के लिये पूरियाँ ले आया, और उसके कमरे में दे भी आया। वह खा-पीकर सो रही। मैं माँ के पास आकर

बैठ गया। माँ रात भर मूर्छित रही। रात के बारह बजे के लगभग मुझे नींद आने लगी और मैं उसी बोरे पर सो गया।

दिल्ली शहर के बाहर मील-डेढ़ मील की दूरी पर गरीबों के एक वैद्य रहते थे। मेरी भी उनसे जान-पहचान थी। उनके हाथ में जस भी था। मैं घड़ी भर रात रहे उठा और उन्हीं वैद्य जी के पास गया। वे अपने रोगियों को देखने के लिए घर से निकलने ही वाले थे कि मैं जा पहुँचा। कई रोगियों को देखते दिखाते आठ बज गए, जब मैं उनको लेकर घर आया।

दालान में जाकर देखता हूँ तो खाट पर माँ नहीं थी। मैंने समझा, शौच गई होगी। वैद्यजी के लिए मैंने कम्बल बिछा दिया, वे बैठ गए। इतने में रसोई-घर में से मुझे रोटियों की थपथपाहट सुनाई पड़ी। मैंने कहा—अहोभाग्य! बहू रसोई बना रही होगी।

मैं देर तक प्रतीक्षा करता रहा। माँ नहीं लौटी। मैं उठकर रसोई-घर के सामने गया तो देखता क्या हूँ कि माँ गीली धोती लपेटे रोटियाँ सेंक रही हैं। चूल्हे पर दाल चुर रही है। तरकारी बन चुकी है।

मैंने पूछा—माँ, यह क्या है?

माँ ने कहा—बेटा! मैं जीती रहूँ और बहू उपवास करे? वह मेरे हाथ का क्या सुख समझेगी? कल चूल्हा नहीं जला, मेरी तो छाती फट गई। रसोई तैयार है। बहू को बुलाओ, आज तुम दोनों मेरे सामने एक साथ बैठकर खाओ, तुम दोनों को खिला-पिलाकर तब मैं फिर बीमार हो जाऊँगी।

माँ के स्नेह का अनुपम चित्र फिर मेरी आँखों के आगे आ गया। मैं ऐसा मोह-मुग्ध हो गया कि अपने को सँभाल न सका। जूता पहने ही रसोई-घर में घुस गया और माँ की गोद में सिर डालकर रोने लगा। माँ की आँखों से भी आँसुओं की धारा बह रही थी।

माँ ने कहा—बेटा! तुमने तो जूता पहने हुए ही रसोई छू ली।

मुझे होश आया। मैंने माँ के हाथ धुलाए और उसे लाकर उसकी

खाट पर लिटा दिया। वैद्यजी सब सुन रहे थे। वे भी माँ के बड़े मोही थे। माँ का स्नेह देखकर बैठे-बैठे रो रहे थे। उन्होंने नाड़ी देखी, दवा दी और फिर आने का वादा करके वे चले गए।

माँ को दवा देकर मैं ऊपर गया। रोमा उपन्यास पढ़ रही थी। उसे देखकर मुझे क्रोध चढ़ आया। मैंने कहा——बहू, तुम्हारे जीवन का रास्ता मेरे जीवन के रास्ते से भिन्न है। मैं समझ नहीं सकता कि मैं किस तरह तुमको सुखी रख सकूंगा।

रोमा ने तत्काल कहा——मैं किसी पर भार-स्वरूप होकर रहना नहीं चाहती। मैंने किसी से सुख की भिक्षा माँगना नहीं सीखा है। मैं अपने सुख की जिम्मेदार स्वयं हूँ। हम दोनों के जीवन के रास्ते जब भिन्न-भिन्न हैं, तब हमें अपने-अपने रास्ते पर जाना चाहिए।

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। रोमा ने अपनी किताबें, कपड़े-लत्ते शृंगार का सामान समेटकर, उन्हें बक्सों में बन्द किया। ताँगा बुलाकर सब सामान उस पर रक्खा और बिना किसी से कुछ कहे-सुने वह चली गई। मैं जानता था कि वह जा रही है, पर मुझे उससे इतनी घृणा हो गई थी कि मैंने उसे नहीं रोका।

इतना कहकर लाला रलियाराम दम लेने लगे।

मैंने पूछा——आपकी माँ ने भी सुना होगा कि बहू चली गई? उन्होंने क्या कहा?

उन्होंने जवाब दिया——माँ जब तक बीमार रही, तब तक की मैंने छुट्टी ले ली थी। मैंने उसे पता ही न लगने दिया कि बहू चली गई। वह बीच-बीच में पूछ लिया करती थी कि बहू को दोनों वक्त खाना ठीक-ठीक मिल जाता है न? मैं हाँ-हूँ करके टाल जाता था। जब माँ कुछ अच्छी हो गई, तब मैंने उसे सब सच-सच कह दिया। माँ सुनकर कुछ देर तक चुप रही, पर उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बराबर बह रही थी। उसने अपने को सँभाल कर कहा——बेटा! तुमने जल्दी की। बहू

को कुछ समय देना चाहिए था । अभी तो उसके खेलने खाने के दिन थे मेरे मरने के बाद वह तुम्हारी गृहस्थी सँभाल लेती ।

मैं चुप रहा । माँ उस बीमारी से फिर नहीं उठी । एक महीने बाद वह मुझे अकेला छोड़कर चल बसी । मरने से थोड़ी देर पहले उसने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा था——बेटा ! तुम्हारी नाव कौन खेयेगा ?

इतना कहकर लाला रलियाराम रोने लगे । मेरी आँखों से भी आँसू जारी थे । रात बहुत बीत गई थी । हम दोनों उठकर चुपचाप अपनी-अपनी राह लगे ।

भीखिन मंगवत्र्

राय रणधीर सिंह अपनी जमींदारी में बहुत लोकप्रिय थे। एक दिन संध्या समय वे गांव घूमने निकले थे। गाँव के बाहर एक गरीब का घर था। घर के पास पहुँचकर उन्होंने अपने साथियों से पूछा—इस घर में आज धुंआ नहीं निकल रहा है। मालूम होता है, चूल्हा नहीं जला। पूछो तो क्या बात है।

एक सिपाही ने घर के सामने जाकर आवाज दी। अंदर से एक बुढ़िया निकल आयी। राय साहब ने उसे अपने पास बुलाकर स्वयं पूछा—आज तुम्हारे घर से धुंआ क्यों नहीं निकल रहा है ?

बुढ़िया ने कहा—खाने के लिये कुछ है ही नहीं, चूल्हा किसलिये जले ?

राय साहब ने फिर पूछा क्यों कोई कमाने वाला नहीं है ?

बुढ़िया कुछ डरती हुई-सी बोली—महाराज, कमानेवाला एक लड़का है। खाने वाले चार प्राणी हैं। रोज की कमाई रोज खतम हो जाती है। सो भी भरपेट खाने को कभी नही मिलता। दो दिन से वह लड़का आप की बेगार में था। पहर भर रात बीते छुट्टी मिलती थी। कल रात से वह बुखार में बेहोश पड़ा है। आज सबेरे आपके सिपाही उसे फिर बेगार में पकड़ने आये। लड़के को बुखार चढ़ा है, इस बात को उन्होंने बहाना समझा और घर में घुसकर उसे बहुत मारा। एक तो वह दुःखी है, दूसरे घर में खाने को कुछ है भी नहीं।

बुढ़िया की बातें सुनकर राय साहब के हृदय में करुणा और क्रोध का इतना उद्वेग हुआ कि वे आगे बढ़ने में असमर्थ हो गए। उन्होंने घूमकर अपने एक सिपाही से कहा—जिलेदार को और उस सिपाही को, जिसने बीमार को पीटा है, यहाँ बुला लाओ। मैं बुढ़िया की फरियाद यहीं सुनूंगा। फिर दूसरे सिपाही से कहा—तुम बाजार से चार आदमियों के एक महीने भर

के खाने का सामान ले आओ। इस घर में चूल्हा जलेगा, धुंआ निकलेगा में उसे देखूंगा, और जब इस घर के लोग खा-पीकर सोने जायगे, तब मैंने यहाँ से उठूंगा और अन्न-जल ग्रहण करूँगा।

राय साहब के पीछे एक छोटी-सी भीड़ तो हर वक्त लगी ही रहती थी। बुढ़िया के दरवाजे पर दस-पाँच मिनट उनके ठहरने से वह भीड़ और भी बढ़ गई। एक गाँव वाले ने एक चारपाई लाकर डाल दी। राय साहब चारपाई पर बैठ गए।

गाँव भर में राय साहब की दयालुता और न्याय-निष्ठा का बखान होने लगा। भीड़ बढ़ने लगी। राय साहब आज एक गरीब के दरवाजे पर अपने ही नौकरों पर धरना देकर बैठे हैं, यह समाचार पाकर आस-पास के गाँव वाले भी जमा हो गए।

बुढ़िया के मुंह से बात नहीं निकलती थी। उसके दरवाजे पर राजा बैठे थे। उस गाँव के और आस-पास के गाँवों के प्रायः सभी भले आदमी जमा थे। ऐसा जमाव तो कभी उसके पुरखों ने भी न देखा होगा।

इतने में जिलेदार और सिपाही हाजिर हुए। राय साहब ने जिलेदार से बेगार पकड़ने का कारण, और जो काम कराया जा रहा था उसका हिसाब पूछा। जिरह में जिलेदार ने स्वीकार किया कि वह रियासत से खर्च लेता रहता है, पर काम बेगार से करा कर रुपया स्वयं ले लेता है। राय साहब ने सिपाही से भी पूछा कि उसने उस गरीब और बीमार को मारा है?

सिपाही ने स्वीकार किया। राय साहब ने दोनों को नौकरी से बर-खास्त कर दिया।

एक महीने के खाने भर का सामान आटा, दाल, नमक आदि आ चुका था, पर बुढ़िया तो राजा का न्याय देखने में लगी थी। राय साहब ने बुढ़िया से पूछा—तुमको या तुम्हारे घर वालों को और भी कोई सताता है?

बुढ़िया ने सारा जीवन रियासत वालों के अत्याचार ही में बिताया, था। आज पहला दिन था, जब उससे यह प्रश्न पूछा गया। फिर भी गरीब

का उदार हृदय जिलेदार और सिपाही को दंड पाते देख आहत हो गया। बुढ़िया ने कहा——धर्मावतार! हमें ओर कोई नहीं सताता। गाँव के भले आदमियों ने बुढ़िया से कहा——जल्दी जाकर चूल्हा जलाओ, महाराज तुम लोगों को खिलाए बिना अन्न-जल नहीं ग्रहण करेंगे।

बुढ़िया झट घर में दौड़ गई। जल्दी-जल्दी आग जलाई, दाल डाली, रोटी सेंकी और बीमार लड़के को दाल की जूस दिया। खुशी के मारे आज उसे भूख ही नहीं थी, पर राजा के सामने सच बोलने के लिये उसने भी रोटी का एक टुकड़ा मुंह में डाल लिया, पानी पिया और एक घंटा बीतते-बीतते वह राय साहब के पैरों पर आकर गिर पड़ी और हाथ जोड़कर बोली——सब ने खा लिया धर्मावतार!

उसकी आँखों में आँसू थे और कंठ में आनन्द। इससे वह कुछ अधिक न कह सकी।

एक पहर रात बीते राय साहब वहाँ से उठे।

राय साहब की सहृदयता से संबंध रखने वाली सैकड़ों गाथायें अब भी लोगों में प्रचलित हैं। गाँववालों में जब किसी राजा या राजा के कर्मचारियों के अत्याचार की चर्चा छिड़ती है, तब राय साहब की न्याय निष्टा और दयालुता की कथायें सम्मान के साथ कही ओर सुनी जाती हैं।

राय साहब पुराने ढंग के रईस थे। कवि थे, कवियों का आदर करते थे, दूर-दूर से कवि उनके दरबार में आया करते थे। बाकायदा दरबार लगता था। नाचने और गाने के लिये वेश्यायें और कत्थक नियुक्त थे। अदब-कायदे का पूरा ख्याल रखा जाता था।

एक बार राय साहब बनारस गए। वहाँ से वापस आते समय उन्होंने रानी के लिये कई हजार का एक चन्द्रहार खरीदा। चन्द्रहार सचमुच बहुत सुन्दर बना था।

बनारस से वापस आने पर उन्होंने भरे दरबार में चन्द्रहार निकाला और दरबारियों को दिखाया। चन्द्रहार देखकर सब दरबारी चकित हो

गए। सबने उनकी तारीफ की और राय साहब के अधिक निकटस्थ दरबारियों ने उसे अलग-अलग हाथ में लेकर देखा।

दरबार में रोज की नाचने-गानेवाली एक वेश्या थी। उसका नाम श्यामा था। श्यामा सुन्दर थी। स्वर भी उसका मधुर था। गान-विद्या में उसका अभ्यास भी अच्छा था। राय साहब ने कवि का हृदय तो पाया ही था, वे रसिक भी थे। इससे श्यामा ने उनके हृदय में घर कर लिया था। राय साहब उसकी बात सुनते थे और वह बात कर भी सकती थी।

राय साहब ने चन्द्रहार को डब्बे में रखवाकर आलमारी में बन्द करवा दिया। सब को मालूम था कि वह रानी के लिये लिया गया है। इससे यह तो निश्चित ही-सा था कि दरबार के बाद राय साहब रनवास में जाकर वह चन्द्रहार स्वयं रानी को देंगे।

उस दिन श्यामा ने जी खोलकर गाया। सारे दरबार पर उसने ऐसी मोहिनी डाल दी कि जितने दरबारी थे, सब 'वाह वाह' करने लगे। राय साहब का कवि-हृदय औरों की अपेक्षा कहीं अधिक मुग्ध हुआ। उनके मुंह से भी 'वाह' निकल गया। इसी 'वाह' के लिये श्यामा अपनी सारी शक्ति लगा रही थी। 'वाह' निकलते ही श्यामा ने झुककर सलाम किया। राय साहब ने हर्ष में गद्‌गद् होकर कहा---श्यामा, आज तुमने बहुत अच्छा गाया, तुम कुछ माँगो।

श्यामा ने फिर सलाम किया और कहा---सरकार मैं चाहती हूँ कि वही चन्द्रहार पहनकर मैं नाचूं।

राय साहब एक क्षण भर तक चुप रहे, फिर उन्होंने नौकर से कहा---चन्द्रहार श्यामा को दे देना।

दरबार का समय हो चुका था। राय साहब उठकर चले गये। श्यामा भी सलाम करके तारीफ करती हुई अपने डेरे पर चली गई।

सीतल कहार राय साहब का बहुत पुराना नौकर था। लड़कपन से ही उनके साथ रहने लगा था। चार बजे सवेरे से लेकर रात के दस-ग्यारह बजे तक वह उनकी सेवा में लगा रहता था। राय साहब के कपड़ों की और

रुपए-पैसों की भी चाभी उसके पास रहती थी। वह उनको नहलाता-धुलाता, खाना खिलाता, कपड़े पहनाता, बिछौने पर ले जाता, पान देता, तम्बाकू भरकर हुक्के की नली उनके मुंह में लगा देता, फिर पैर दबाने लगता। जब राय साहब को नींद आ जाती, तब वह चुपके से उठकर अपने खाने-पीने की चिंता करता। यह उसका रोज का नियम था। महल से थोड़ी ही दूर पर उसका मकान था। दोपहर को राय साहब को भोजन के पश्चात् आराम-घर में पहुँचा कर, उनके सो जाने पर वह अपने घर खाना खाने जाता और तीन बजे के लगभग, जब राय साहब के जागने का समय होता, वह महल में आ जाता था।

दूसरे दिन श्यामा ने सीतल के पास आदमी भेजकर कहलाया कि वह चन्द्रहार उसे दे दे। सीतल को यह बात पसन्द नहीं थी कि रानी के लिये आया हुआ चन्द्रहार वेश्या को दिया जाय। उसने यह कह कर टाल दिया कि अभी मुझे काम से फुरसत नही है।

तीसरे या चौथे दिन श्यामा ने स्वयं उससे चन्द्रहार माँगा। तब भी उसने यही उत्तर दिया कि अभी जरूरी काम से जा रहा हूँ।

श्यामा को सीतल की यह गुस्ताखी कैसे बरदास्त होती! वह भी तो राय साहब की मुंहलगी थी। एक मामूली नौकर की यह मजाल कि वह राय साहब के हुक्म की तामील में ढिलाई करे।

बारह बजे राय साहब खाना खाकर आराम करने जा रहे थे। उसी समय श्यामा आ पहुँची। उसने सलाम करके कहा—सरकार, आपने चन्द्रहार मुझे इनायत किया था, पर सीतल ऐसा गुस्ताख हो गया है कि बार-बार माँगने पर भी उसने आजतक नहीं दिया और रोज हीला-हवाला करता रहता है।

अवज्ञा राय साहब के मिजाज के बिलकुल प्रतिकूल थी। सीतल की तरफ उन्होंने क्रोध करके देखा और कहा—अभी लाकर दो।

राय साहब को बिछौने पर पहुँचाकर सीतल आलमारी के पास पहुँचा।

उसने उसे खोला। चन्द्रहार का डब्बा निकालकर हाथ में लिया और तेजी के साथ वह राय साहब के पास पहुँचा।

सीतल अपढ़ था, पर हृदय से स्वामी-भक्त था। मर्यादा का उल्लंघन होते देखकर स्वामी के अनिष्ट की आशंका से वह विक्षुब्ध हो उठा था। क्षण भर ही में उसने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया, और स्वामी के कल्याण की कामना से साहस का संचयकर अपने प्राणों की बाजी लगाकर, वह राय साहब के सामने चन्द्रहार का डब्बा रखकर बोला—'ल, तुहीं अपने हाथे से दअ्, रानी क हार पतुरिया क देत अहअ्, भीखिन मँगबअ्'।*

यह कह कर सीतल महल की ड्योढ़ियाँ लाँघता हुआ बेतहाशा भागा। वह भागता हुआ सीधा अपने घर पहुँचा। बाहर ही से उसने पुकारकर अपनी स्त्री से कहा—राजा ने न्याय छोड़ दिया है मैं अब इस राज्य में नहीं रहूँगा। तुम बाल-बच्चों को लेकर जल्द राज की हद से बाहर निकल आओ। मैं तुमको वहीं मिलूंगा।

सीतल एक मिनट के लिये भी घर पर नहीं ठहरा। वह महल से दक्षिण की ओर भागा जा रहा था, क्योंकि उसी ओर राज्य की हद नजदीक थी।

सीतल का अप्रिय सत्य राय साहब के हृदय में चुभ गया। डब्बे को सामने पड़ी हुई चौकी पर रखकर वे बिछौने पर लेट गए। श्यामा वहाँ से चुपचाप खिसक गई।

महल में तहलका मच गया। लोग तरह-तरह की कल्पनायें करने लगे। पर राय साहब, सीतल और श्यामा के सिवा और कोई न जानता था कि क्या हुआ।

इतने में दूसरा नौकर तम्बाकू भरकर लाया। राय साहब ने कहा—पहरे वाले सिपाही से कहो कि सीतल को पकड़ लावे।

---

*लो, तुम्हीं अपने हाथ से दो, रानी का हार वेश्या को दे रहे हो, भीख ही माँगोगे।

राय साहब यह हुक्म देकर सो गए। पहरे का सिपाही सीतल के घर या। गाँव वालों ने कहा कि वह तो गाँव छोड़कर भाग गया है।

उसे पकड़ लाने के लिये सवार दौड़ाया गया। तीन मील की दूरी र भागते हुए सीतल को सवार ने जा पकड़ा। दो-चार घूंसे लगाकर, श्कें बाँध कर, वह उसे महल में ले आया।

रियासतों में कोई किसी का मित्र नहीं होता। जैसे चूहा बिना कारण ो चीजें काटता रहता है, वैसे ही रियासत के नौकर-चाकर बिना किसी ारण के भी दूसरे की निन्दा करते रहते हैं। सीतल राय साहव का बहुत श्वासी नौकर था, सदा उनके पास रहता था, इससे प्रजा को लूटनेवाले र्मचारी यह समझते थे कि राय साहव के कान में सीतल ही उनकी कायतें पहुँचाता है। आज उन्होंने अच्छा मौका पाया। उसे देखकर कसी ने कहा—आज चोर पकड़ा गया है। किसी ने कहा रियासत को टकर इसने घर भर लिया है, अब मालूम हो जाएगा। किसी ने कहा— सने श्यामा को गाली दी थी, श्यामा ने शिकायत करदी, राय साहब लवार लेकर इसे मारने दौड़े थे। किसी ने कहा— इसे इतना घमंड हो या था कि भगवान् को बुखार चढ़ आया था। जितने मुंह उतनी बातें ों। फाटक के सामने सीतल सिर नीचा किए बैठा था।

लोग राय साहब के उठने की प्रतीक्षा कर रहे थे। तीन बजे राय ाहब उठे। सीतल को पकड़ कर लाने की इत्तला दी गई। हाजिर किए ाने का हुक्म हुआ। सीतल की मुश्कें खोल दी गईं और वह राय साहब सामने पहुँचाया गया।

राय साहब ने कहा—तम्बाकू भर ला।

सीतल तम्बाकू भरने चला गया। महल के नौकर-चाकर, सिपाही ब एक दूसरे का मुंह ताकते हुए खिसक गए। किसी की समझ में कोई ात न आई।

सीतल तम्बाकू भर लाया, और फिर नित्य के काम में लग गया। ाय साहब तम्बाकू पीकर उठे, पाखाने गए, स्नान किया, कपड़े पहने, पान

खाया और दरबार में जा बैठे । सीतल छाया की तरह सदा की भांति उनके पीछे-पीछे लगा रहा ।

राय साहब ने पचास बीघे जमीन का एक पट्टा श्यामा के हाथ में देकर कहा—यह तुम्हारे जीवन भर के लिये है । अब तुम कभी दरबार में न आना ।

सुहागरात का उल्लू

नागपुर की कांग्रेस के बाद की बात है। मैं स्वास्थ्य के लिए कई महीने मारवाड़ में बिताकर घर लौट रहा था, और दो-चार दिन जयपुर की सैर करने के लिये रास्ते में ठहर गया था।

मैं 'एडवर्ड मेमोरियल होटल' में ठहरा था। वहीं पर एक युवक से परिचय हुआ, जो कानपूर के एक जमींदार का लड़का था। उसकी अवस्था बीस-इक्कीस वर्ष की रही होगी, रंग गोरा, शरीर पतला लम्बा, नाक लम्बी और नोकवती, चेहरा भरा हुआ, पर चेहरे पर प्रतिभा के स्थान पर बुद्धूपन की छाप अधिक स्पष्ट थी, जो पुराने ढंग के जमींदारों के लड़कों की एक पैतृक सम्पत्ति-सी होती है। थोड़ी-सी अँग्रेजी उसने पढ़ी थी, वही उसे भरमा रही थी। नहीं तो ऐसे लड़के घर और गाँव की सीमा के बाहर शायद ही कभी, सो भी किसी मेले-ठेले में, बनठनकर घर से निकलते हैं।

मेरा उसका दो दिन तक साथ रहा। मैं घूमने निकलता तो ताँगे पर उसे भी बैठा लिया करता था।

दूसरे दिन रामनिवास बाग में एक घने वृक्ष की छाया में बैठ कर, उसने अपने उस छोटे-से जीवन की एक मनोरंजक घटना सुनाई थी। उसके शब्द तो अब मुझे याद नहीं रहे, पर कथा याद है। लड़के का नाम और पता बताने की आवश्यकता मैं नहीं समझता हूँ। तब से अबतक उसकी समझदारी और स्वभाव में बहुत कुछ अन्तर आ चुका होगा। सम्भव है, अब वह बुद्धू न रहकर और बुद्धिमान हो गया हो। मैं तो केवल यह बताना चाहता हूँ कि वह उल्लू कैसे बना, जिससे और कोई उल्लू न बने। हाँ, कहानी के लिये लड़के का नाम मैं कुमुद रख लेता हूँ।

कुमुद ने आठवें क्लास तक अँग्रेजी पढ़ी थी। अंग्रेजी के साथ हिन्दी का भी साधारण ज्ञान उसे था। रईस का लड़का था, बाप का इकलौता बेटा था, लाड़-प्यार के झूले में दिन-रात झूल कर बड़ा हुआ था।

माँ-बाप उसे आँखों से दूर रखना नहीं चाहते थे। आठवें दर्जे में फेल हो जाने से उसने स्कूल छोड़ दिया था।

धनी घर के लड़के इस अर्थ में बड़े ही अभागे होते हैं कि जन्म ही से उन पर आवारा लोगों की कुदृष्टि रहती है। कुमुद को भी ऐसे साथी आप से आप मिल गए थे। एक तो जवानी, दूसरे कुसंगति, एक तो बुद्धूपन दूसरे अनियन्त्रित सत्ता, कुमुद ने अपने को अच्छी तरह आवारा साथियों के सुपुर्द कर दिया। साथी लोग तरह तरह के आकर्षणों में फँसा कर उसको जो रोज ही निचोड़ते रहते थे।

१८ वर्ष की अवस्था में उसका विवाह हुआ था। विवाह के समय उसकी स्त्री की आयु चौदह-पंद्रह वर्ष की थी। और वह आठवें या नवें क्लास में पढ़ रही थी। उसके पिता ने इन्ट्रेंस पास होने तक उसे ससुराल नहीं जाने दिया था।

इक्कीसवें वर्ष के प्रारम्भ में कुमुद को यह मालूम हुआ कि उसकी स्त्री, जिसका नाम हम कहानी के लिये कुमुदनी रख लेते हैं, इन्ट्रेंस पास हो गई है और वह ससुराल आने वाली है।

एक दिन दोपहर होते-होते वह आ ही गई।

सुहागरात मनुष्य के जीवन में एक अद्भुत घटना है, जिस दिन से दो अपरिचित धाराएँ गंगा-यमुना की तरह एक होकर बहने लगती हैं।

कुमुद हफ्तों से सुहागरात के लिये तैयारी कर रहा था। नाई रोज हजामत बना जाता था, दरजी नये-नये कपड़े तैयार कर रहा था, गंधी रोज तरह-तरह के इत्र दे जाता था. संगी-साथी विनोद की बातें कर-कर के उसके हृदय को हुलसाया करते थे।

घर के भीतर बहू के आने से पहले ही उसकी प्रशंसा पहुँच गई थी। नौकर-नौकरानियों को घर की मालकिन को खुश करने का एक मनोरंजक धंधा मिल गया था।

एक दिन कुमुदनी के साथ पढ़ने वाली एक लड़की कुमुद के घर आई, कुमुद की माँ और नौकरानियों ने उससे नई बहू के बारे में बहुत से प्रश्न पूछे।

नई बहू की और सब बात तो सबने हजम कर लीं, पर दो बातें उन्हें हजम न हो सकीं, एक तो यह कि वह अँग्रेजी ही में बातचीत करना पसन्द करती है, दूसरी यह कि वह परदा नहीं करती। कुमुद की माँ को, जो सास होने का स्वप्न देख रही थी, दोनों बातें अप्रिय लगीं और वह कुछ शंकित-सी हो गई।

नौकर-नौकरानियों ने नई बहू की गुण-गाथा कुमुद के आवारा साथियों तक भी पहुँचा दी। कुमुद को वे यह कह कर और छेड़ने लगे कि वह अँग्रेजी बोलेगी, तब तुम क्या जवाब दोगे, तुम उसके बराबर पढ़े तो हो नहीं।

बुद्धू कुमुद रोज डूबता चला जाता था। भीतर ही भीतर वह बहू से भयभीत भी हो चला था। बहू के आने के दिन तो उसके साथियों की छेड़ छाड़ इतनी बढ गई कि उसे झेंप-सी आने लगी और बहू के आकर्षण के बदले उसके मन पर उसकी अँग्रेजी का आतंक छा गया। तब भी मन की धारा बिल्कुल सूख नहीं गई थी। सुहागरात में बहू के प्रथम मिलन की लालसा युवक पति के लिये क्या साधारण बात है ! झेंप, आतंक, लज्जा, संकोच—सब मिलन-सुख की कल्पना में बार-बार डूबते उतराते रहते थे।

घर के अन्दर दिन भर गाना-बजाना होता रहा। मेल-जोल के स्त्री-पुरुषों को अलग-अलग दावतें दी गई थीं।

नई बहू को घेर कर महल्ले की कन्या, युवती, प्रौढ़ा, नवोढ़ा स्त्रियाँ बैठी और बातें करने लगीं। कुमुदनी को उनके साथ बातें करने में कुछ भी संकोच नहीं था। वह पूर्व परिचिता की भांति बीच में ऐसी निर्भीकता से बातें करती थी, जैसे कोई उपदेशिका स्त्रियों की किसी सभा में। कुमुदनी ने बातों ही बातों में अपनी जानकारी की सब बातें उनके आगे उगल दीं। इस कला में वह प्रवीण हो चुकी थी। महल्ले की सीधी-सादी स्त्रियाँ बेचारी हक्की-बक्की सी सुनती जाती थीं। कुमुदनी ने यूरोप, अमेरिका के स्त्री स्वातंत्र्य् का भी जिक्र किया। कपड़ा, साबुन, पोमेड, हेयर पिन, लिपिस्टिक, पाउडर, जूता, स्लिपर, मनीबेग, उपन्यास, चाय, बिस्कुट आदि

कोई खर्चीला विषय नहीं छूटा जिस पर उसने कुछ न कुछ भाषण न किया हो।

घंटे-दो घंटे में सबको उसने अपना लोहा मनाकर छोड़ा। सास बेचारी दूर बैठी उसकी वाचालता देखकर मन ही मन काँपती रही।

एक प्रौढ़ा ने घर से विदा होते समय धीरे से कहा—तीन राह के मुसाफिर एक ही सराय में आकर ठहर गए हैं, देखो, कल क्या होता है ?

बेचारा कुमुद महल्ले की स्त्रियों का भी शिकार हुआ। घर में आते-जाते जो कोई उसे मिली, सबने कुछ न कुछ कहकर उसकी झेंप बढ़ा दी।

शाम हुई। कुमुद के पिता ने ब के आने की खुशी में नाच-गान का समारोह किया था। रात के दस बजे तक तबला, सारंगी, सितार और मनुष्य के कंठ का संघर्ष चलता रहा।

दस बजते-बजते मेहमान और घर के लोग सोने चले गये, तब हिन्दू पति को अपनी स्त्री के पास चोर की तरह जाने का अवसर मिला। सब के सो जाने पर, पैर की आवाज बचाते हुए चुपके-चुपके पत्नी के घर में चोर की तरह घुसना सिखाने के लिये कोई स्कूल नहीं है, पर इस प्रकार की चोरी का ज्ञान अनादि काल से हिन्दू-युवकों को मिलता आ रहा है।

जब बाहर बैठक में गाना-बजाना हो रहा था, मालकिन घर में आई हुई स्त्रियों को खाने-खिलाने में व्यस्त थीं तभी बहू खा-पीकर, दस बजे के पहले ही अपने कमरे में जाकर सो गई थी।

रात के दस बज चुके थे। ग्यारह निकट था। कुमुद धीरे-धीरे, सबकी आँख और कान बचाता हुआ, बहू के कमरे की ओर चला। कमरे का दरवाजा उढ़काया हुआ था, केवाड़ों के बीच में से उसने झांक कर देखा, कमरे में बिजली का प्रकाश हो रहा था, पलँग पर बहू सोई हुई थी, कुमुद की छाती धक्-धक् कर उठी। अगर बहू मुझसे अँग्रेजी में बातचीत शुरू करेगी तो मैं क्या जवाब दूंगा—यह भय का भूत विकराल रूप धारण करके उस पर सवार था। पर वह वहाँ से भागकर जाता किधर? कुमुद के चचेरे भाई की स्त्री तथा उसकी दो-एक सहेलियाँ भी बरामदे में, खम्भे की आड़ में

ाड़ी मुसकुरा रही थीं। वह दरवाजे पर खड़े-खड़े देर तक ताक-झांक
ीं कर सकता था।

ोरे से दरवाजा खोलकर वह अन्दर गया और फिर दरवाजे को
रके उसने बिजली की बत्ती बुझा दी।

बजली की बत्ती बुझते ही अंधकार के धक्के से कुमुदनी जाग उठी।
संभव है वह सिर्फ लेटी हुई थी, सो नहीं रही थी। क्योंकि
रात इस तरह सो जाने की नहीं होती। उसने उठते ही पूछा—
?

ुमुद ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उत्तर देने की ढिठाई थी ही नहीं।
कुमुदनी शीघ्र ही समझ गई कि उसके पति के सिवा और कौन हो
है। उसने पँलग पर बैठे ही बैठे दूसरा प्रश्न जड़ दिया--रोशनी
ुझा दी?

ब बुद्धू का कंठ फूटा। जल्दी से जवाब दे बैठे—तुमको देखने के

क अंग्रेजी पढ़ी हुई लड़की उत्तर-प्रत्युत्तर में कभी चूक नहीं सकती।
ः उसने कही तो दिया—अँधेरे में तो उल्लू देखता है।

बात तो मौके की थी, पर कुमुद इस प्रश्न का क्या उत्तर देता! वह
कता था कि 'अंधेरे में तुम्हारा मुंह कैसा चमकता है, यह देखन के लिये।'
वहां ठहर न सका और झुंझलाया हुआ कमरे के बाहर हो गया।

ुमुद की सुहागरात की घटना सुनकर मुझे हँसी आई। मैंने कहा—
तुम्हें उल्लू कहा और तुमने उल्लू बनकर दिखला भी दिया। अच्छा

ुमुद कहने लगा—वहाँ से निकल कर मैं सीधा बैठक में आया, आल-
खोलकर कुछ रुपए लिये, कोट पहना, चुपके से घर से निकलकर
पहुँचा और इलाहाबाद चला गया। वहाँ नागपुर काँग्रेस के लिये
ियरों के लिये भरती हो रही थी, मैं भी वालंटियर बन गया,
ागपुर भेज दिया गया।

मैंने कहा—काँग्रेस वालों को क्या पता कि उसमें कैसे-कैसे उल्लू भी आ फँसते हैं।

कुमुद कहता ही गया—नागपुर काँग्रेस से मै बंबई गया। बम्बई में कई महीने घूम—फिर कर मैं एक गुजराती जौहरी के साथ जयपुर आया हूँ।

मैंने पूछा—अब तक तुम्हारे माँ-बाप को खबर नहीं कि तुम कहाँ हो ?

कुमुद ने कहा—नहीं, अखबारों में मेरे पिता ने मेरे गायब होने का समाचार छपाया था और मेरा पता लगाने वाले को कुछ इनाम की घोषणा भी की थी, पर आजतक कोई मेरा पता न पा सका। मैंने माँ-बाप को जयपुर आने से पहले तक कोई पत्र भी नहीं दिया।

मैंने पूछा—जयपुर से शायद तुमने कोई पत्र भेजा होगा ?

उसने कहा—हाँ, पास के रूपए सब चुक गए। रूपए विना परदेश में काम नही चल सकता। मैंने पिताजी को लिखा है कि उस लड़की को घर से निकाल दो, तो मै घर आऊँ।

मैं सहम उठा—इतना कठोर दंड ? मैंने कहा—लड़की ने क्या अपराध किया था।

वह आँखें फाड़कर मेरी ओर देखते हुए कहने लगा—अपराध ! मुझे उल्लू कहा, क्या यह कोई अपराध नहीं ?

मैंने कहा—पर तुमने भी तो उल्लू-सा जवाब दिया था। अँधेरा करके तुम भला उसे कैसे देखते ?

कुमुद ने कहा—मैं चाहे जो कहूँ मेरी स्त्री को मेरे सामने जीभ नहीं हिलानी चाहिये।

मैंने देखा कि उसके कष्ट का मूल कारण हिन्दू-परिवार की रूढ़ियाँ और उचित शिक्षा का अभाव है। उधर बहू अपनी वाचालता से विवश थी। योग्यता प्रदर्शन के लिये तत्काल उत्तर देने की स्कूल में जो उसकी आदत पड़ गई थी, उसका यह परिणाम निकला। स्कूल में यदि उसे हाजिर जवाबी के साथ-साथ नम्रता, सुमधुर-विनोद-प्रियता और सरलता की

शिक्षा दी गई होती, तो वह पति को उल्लू कहने की अपेक्षा स्वयं पलंग से उठकर स्विच के पास जाती और बिजली जलाकर पति के सामने खड़ी हो जाती और कहती—'अब उजाले में देखो अँधेरे म क्या देखोगे ?' घबराए हुए बेचारे पति को इस युक्ति से सान्त्वना ही नहीं मिलती, उसकी झेप भी मिट जाती, और यह दुःखदायी घटना न होने पाती। पता नहीं हमारे समाज सुधारक इस कहानी में किसका पक्ष लेगें।

मैंने कुमुद से पूछा—अब तुम्हारा क्या इरादा है ?

कुमुद ने कहा—मैं तो उस स्त्री का मुंह भी नहीं देखना चाहता जब तक वह उस घर में रहेगी, तब तक मैं घर के भीतर पाँव भी नहीं रखूंगा।

मैंने उसे बहुत समझाया और यह भी कहा कि चलो, तुमको मैं तुम्हारे घर पहुँचा दूं, पर वह किसी बात पर राजी न हुआ।

दो दिन जयपुर रहकर मैं प्रयाग चला आया। कुछ दिनों के बाद सुना कि कुमुद के पिता ने कुमुदनी को घर से अलग करके उसके खर्च के लिये कुछ मासिक बाँध दिया और कुमुद को घर बुला लिया। कुमुद का दूसरा विवाह एक अपर लड़की से हुआ और सुना है कि वे दोनों सुखी हैं।

दातादीन

मैंने बहुत चाहा कि दातादीन की चोरी की आदत छूट जाय, पर वह न छूटी, न छूटी। एक दिन मैंने हार मान ली और दातादीन को नौकरी से छुट्टी दे दी।

दातादीन जाति का अहीर है। उम्र साठ-सत्तर से कम न होगी, पर शरीर अभी सीधा और हड्डियाँ माँस से ढकी हुई हैं। आँखें चमकीली और चेहरा कुछ भव्य भी है।

वह मेहनती स्वभाव का है। मेरे यहाँ था तो दिन भर कोई न कोई काम किया ही करता था। आये-गये को दौड़कर कुर्सी देना, पानी और पान के लिए पूछना भी जानता है।

किसी बात का जवाब देते समय आँखों में रस भर लाता है और चेहरे पर तत्काल सुशीलता झलका देने में तो बड़ा ही निपुण है। बड़ा मीठा है।

'हुजूर' और 'सरकार' तो उसके वाक्य-वाक्य में तीर के फल की तरह लगा ही रहता है। बात करते ही करते ऐसा महसूस होने लगता है कि इसने किसी सरकारी अफसर के यहाँ नौकरी की होगी।

पाँच-छः बरस पहले वह नौकरी के लिये मेरे सामने आया। नौकर की जरूरत न रहने पर भी कुछ तो उसके बुढ़ापे का ख्याल करके और कुछ इस स्वार्थ से कि बुड्ढा नौकर घर के अन्दर भी आ-जा सकता है, मैंने उसे नौकर रखना मन ही मन स्वीकार कर लिया।

पर सचमुच एक नौकर बढाने की इच्छा नहीं था। पर स्वय 'न' कहने की अपेक्षा नौकरी चाहने वाले ही से 'न' कहला लेना अधिक बुद्धिमत्ता की बात होगी, ऐसा समझकर मैंने कहा—नौकर की जरूरत तो नहीं है, पर तुम बुड्ढे हो, इस ख्याल से तुम पर दया आती है। तुम दोनों वक्त खाना और दो रुपए महीने पर रहना चाहो तो रह सकते हो।

मैंने सोचा था, वह 'न' कहेगा, क्योंकि शहर में कम से कम पाँच-छः रुपए महीने और खाना-कपड़ा से कम में नौकर नहीं मिलते। पर उसने तो 'हाँ' कर लिया। मैंने सोचा—बेचारा बहुत मुसीबत का मारा है। अहीर लोग तो किसी अन्य जाति के हाथ का बनायाखाना नहीं खाते, लेकिन यह खाएगा। निश्चय ही यह घर पर भूखों मर रहा होगा, तभी चाहे जैसी नौकरी मिले, करने को तैयार हो गया है।

मैंने उसे घर का काम सौंप दिया और यह भी बता दिया कि घर के काम से छुट्टी पाओ तो बाग का काम किया करो।

उसने झुककर सलाम किया और उसी वक्त सुपरिचित की तरह काम में लग गया।

उन दिनों मैं घर पर बहुत कम रहता था। ज्यादातर इलाहाबाद रहा करता था। महीने, दूसरे महीने दो-एक दिन के लिये घर आ जाया करता था। जब आता, तब दातादीन तो सबसे पहले मिलता, सलाम करता, बैठने के लिये कुर्सी रख देता और दौड़कर घर के अन्दर से जलपान लाता।

इस उम्र में उसकी ऐसी चेतनता देख कर मैं बहुत प्रसन्न होता और घर में जाकर स्त्री कोप्रायः कह दिया करता था कि दातादीन को खाने का कष्ट न होने पावे।

मेरे कहने पर उसे सवेरे गुड़ भी मिलने लगा और महीने में आने-दो आने तम्बाकू के लिये भी।

तम्बाकू वह बहुत पीता था। उसके मुंह और हाथ से बदबू आती थी। पानी का गिलास लाता तो बदबू आने लगती थी।

इसके लिये मैंने उसे डाँटा डपटा, तब वह हाथ अच्छी तरह धोकर पानी लाने लगा, पर मुंह की बदबू को वह क्या करता ? मैंने ही अपनी आदत डाल ली कि जब वह पास खड़ा रहता, तब उससे कुछ पूछता ही नहीं था।

दातादीन ने अपनी मेहनत, मीठी बोली और छोटे बच्चों पर अधिक

प्यार रखने के स्वभाव से घर के सब छोटे-बड़े को वश में कर लिया था।

पर घर के अन्दर उसकी एक शिकायत सुनने को मिल ही गई। वह खाता बहुत था। स्त्री ने कहा—जितना घर भर के सब लोग खाते हैं, उतना यह अकेला खाता है, भीमसेन के लिये इतना खाना दोनों वक्त कौन बनावे ?

मैंने कहा—जितना जिसका अहार है, उतना तो उसको मिलना ही चाहिये। पेट ही के पीछे तो यह घर छोड़कर आया है। कम खाकर एक बुड्ढा आदमी इतनी मेहनत कैसे कर सकता है ?

मेरी दलील से दातादीन के खाने में कोई शिकायत नहीं होने पाई।

एक बार मैं इलाहाबाद से घर आया तो एक दूसरे नौकर ने मुझे यह खबर दी कि पुलिस दातादीन की जाँच करती है। दो-तीन बार पुलिस आ चुकी है।

मैंने दातादीन को बुलाकर पूछा—वह मेरे पैरों पर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाकर कहने लगा—सरकार, मुझे अपने यहाँ से हटायेंगे तो पुलिस किसी न किसी इलजाम में मुझे पकड़कर जेल भेज देगी।

मैंने क्रोध प्रकट करते हुए पूछा—तो बात क्या है। पुलिस तुम्हारे पीछे क्यों पड़ी है ?

दातादीन ने अत्यन्त नम्र भाव से उत्तर दिया—हुजूर, मैं चौकीदार था, दारोगा जी मुझसे माँस-मछली मँगवाना चाहते थे, मैं भगत आदमी हूँ, मैंने इनकार किया, इसी पर उन्होंने मुझे नौकरी से भी अलग कर दिया और मेरे पीछे यह जाँच भी लगा दी। सरकार के कदमों में आ गया हूँ, नहीं तो वह मुझे कब का उठा ले गई होती।

मुझे उस पर दया आ गई। मैंने कहा—अच्छा, जाओ काम करो, मैं पुलिस से बात करूँगा।

एक दिन एकाएक हल्के के दारोगा मिल गये। मुझे दातादीन की

जाँच वाली बात याद आई। मैंने पूछा तो उन्होंने कहा—वह पक्का चोर है। पहले चौकीदार था। चोरों के साथ मिलकर वह चोरी किया करता था। एक बार पकड़ा गया, तब दारोगाजी की मेहरबानी से वह छूट गया, पर चौकीदारी तो उसकी चली ही गई। तब से उसकी जाँच होती है। आप ने चोर को नौकर रखा है, होशियार रहियेगा।

मैंने कहा—मुझे तो अबतक उसमें ऐसी कोई आदत नहीं दिखाई पड़ी। और अब बुढ्ढा भी हो चला है, अच्छा होगा कि आप उसका नाम काट दीजिए और उसे मेरे सुपुर्द कर दीजिए, मै उसकी चोरी की आदत छुड़ा दूंगा।

दारोगाजी नेक स्वभाव के आदमी थे। मेरी बात मान गये और कुछ दिनों बाद उन्होंने उसका नाम कटवा दिया। पर यह बात दातादीन को मैंने मालूम नहीं होने दी। मैंने सोचा कि कहीं निर्भय होकर वह मेरे ही यहाँ चोरी न कर बैठे।

अब मैंने समझा कि दातादीन ने इतने सस्ते वेतन पर नौकरी क्यों कबूल कर ली थी। और मेरा यह सन्देह भी सही साबित हुआ कि उसने किसी सरकारी अफसर के पास नौकरी की है। तभी तो 'हुजूर, और 'सरकार' उसका तकिया-कलाम हो गया है।

अब दातादीन पर मैं नजर रखने लगा।

मेरे बड़े लड़के साहब डिप्टी कलेक्टरी का इम्तहान देने की तैयारी कर रहे थे, उनको एक अलग नौकर की जरूरत थी। मैंने दातादीन को उनके साथ कर दिया।

वे जरा खर्चीले स्वभाव के हैं, इससे दातादीन की तो बन आई। दिन भर में वह कई बार स्वयं पूछ लिया करता कि 'सरकार' पान ले आऊँ ?

लिखने-पढ़ने वाले आदमी को मुंह चलाते रहने की भी जरूरत पड़ती है। शायद दिमाग में लिखने-पढ़ने की नस के पास ही मुंह की नस है। एक नस थक कर सुस्त पड़ने लगती होगी तो दूसरी उसे हिला देती होगी।

लड़के साहब 'हां' कह देते और दातादीन मुंह-मांगी मुराद पाकर बाजार को लम्बा हो जाता।

बाजार में उसके गाँव के एक बनिए ने दूकान कर रखी है। वह उसकी दूकान पर जाता, 'रमरमी' करके बैठ जाता, तम्बाकू पीता और फिर पान वाले से तीन पैसे में चार पैसे का पान लेकर घर आता।

दिन भर में चार आने, छः आने का पान तो खर्च होता ही। दातादीन ने पानवाले को धमकी देकर कि यदि वह तीन पैसे में चार पैसे का पान नहीं देगा तो वह दूसरी दूकान से पान खरीदा करेगा, एक पैसे की बचत निकाल ली थी। इस तरह दिन भर में वह आना-डेढ़ आना कमाने लगा। हिसाब मे तो वह पान का पूरा दाम ही लिखवाता। शाम को बाजार जाता तो दिन भर की कमाई का पैसा उसी बनिए के यहाँ जमा कर आता।

लड़के साहब ने देहात से एक बोतल शुद्ध शहद मँगवाया। वे कभी-कभी उसे खाया करते थे। दातादीन को मीठा खाने की आदत थी। बुढ़ापे में मीठा भाता भी बहुत है। एक दिन शहद की बोतल ताक पर रखने लगा, तब जरा-सा शहद हाथ पर लेकर चखा, फिर तो शहद उसके मुंह लग गयी।

लड़के साहब एक चम्मच खायें, तो दातादीन को एक छटाँक चाहिये। अहिर का पेट गहिर। पर बोतल इतनी जल्दी खाली होती देखकर कहीं मालिक ताड़ न जाय, इससे दातादीन ने यह तरकीब निकाली कि शहद लेने से जितनी दूर तक बोतल खाली हो जाती, उतनी दूर तक वह पानी भर दिया करता।

शहद का गाढ़ापन कम होता जा रहा था। एक दिन लड़के साहब ने पूछा—शहद पतला क्यों होता जा रहा है?

दातादीन ने कहा—हुजूर मौसम बदल रहा है।

एक दिन लड़के साहब ने गौर से देख कर कहा—इसमें तो किसी ने पानी मिलाया है।

दातादीन ने भी झुककर शहद को गौर से देखा और धीरे से कहा—बड़ी बहन भी कभी-कभी ले लिया करती हैं।

लड़के साहब ने कहा—पर पानी मिलाने की क्या जरूरत है?

दातादीन चुप रहा। इसके कई दिन बाद मेरी बड़ी लड़की, जिसे वह बडी वहन कहा करता था, ठीक उसी समय दातादीन के पास से होकर जा रही थी। जब वह शहद चाट रहा था। वह पकड़ा गया, लेकिन पूछे जाने पर उसने कहा—बोतल के ऊपर शहद लगा था, वह हाथ में लग गया, उसे ही चाट रहा था।

लड़की ने यह हाल अपने भाई से कहा और तब से घर के लोगों ने यह समझ लिया कि दातादीन शहद चुरा कर खाता है और बोतल में उतना ही पानी डाल देता है।

मैं इलाहाबाद से आया। मुझे भी दातादीन का यह बुद्धि-विलास सुनाया गया। मैंने कहा—दातादीन चौकीदार रह चुका है। चोरी करना और झूठ बोलना खूब जानता है। इससे होशियार रहा करो।

दातादीन को बुला कर मैंने कहा—देखो, तुम अब किनारे पहुँच गए हो, कुछ भगवान को भी डरो। तुमको किसी चीज के खाने की जरूरत हो तो माँग लिया करो।

दातादीन ने कहा—हुजूर के घर मुझे कमी किस चीज की है? सब चीजें माँजी तो रहती हैं। मालकिन दिन भर में कई बार पूछती रहती हैं?

दातादीन की इस करतूत से मुझे उससे घृणा होने लगी। पर मैंने तो उसकी चोरी की आदत छुड़ाने के वादे पर पुलिस के चंगुल से उसे बचाया था और शहद की चोरी की जिम्मेदारी तो हमारे ही घर की लापरवाही पर थी, क्योंकि बाहर होता तो वह शहद की चोरी क्यों करता?

मेरा रुख जरा-सा उसके खिलाफ देखकर घरवालों ने उसकी शिकायतों का पहाड़ सामने खड़ा कर दिया; क्योंकि उसके लिये दोनों वक्त मेरों खाना तैयार करते-करते सब ऊब गए थे। स्त्री ने कहा—जब से दातादीन

आया है, चीनी और घी का खर्च बढ़ गया है। घर के सब लोग खा-पी चुकते हैं, और सोने चले जाते हैं, तब दातादीन रसोई-घर में जाकर खाता-पीता है। उसी वक्त घी-चीनी का लड्डू बनाकर यह खाता होगा।

मैंने कहा—घी-चीनी का लड्डू, जो सुर-मुनि को भी दुर्लभ है, इतने सहज में और एकान्त में पाकर दातादीन उसे कैसे छोड़ सकता है? गलती तुम्हारी है। तुम घी-चीनी को ताले में बन्द करके क्यों नहीं रखती? और दातादीन को सबसे पहले खाना खिला दिया करो तो यह मुसीबत ही न आये।

स्त्री ने कहा—उस वक्त वह अपने को किसी न किसी काम में ऐसा फँसाए रखता है कि बार-बार बुलाने पर भी नही आता।

मैंने दातादीन को बुलाकर कहा—देखो, तुम बुढ्ढे हो। हिन्दू का धर्म है कि पहले बुढ्ढों और बच्चों को खिलाकर तब खुद खाय। तुम सबसे पहले खा लिया करो।

दातादीन ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया—सरकार, मालिक लोग सब खा लें, तब नौकर के खाने का धर्म है। और खाना खाने के बाद अब मुझसे बैठे नहीं रहा जाता, इससे देर करके खाता हूँ। तब तक आपकी टहल में लगा रहता हूँ।

दातादीन तो हम सबसे बढ़कर उस्ताद निकला।

मैं रात म सोते वक्त सिरहाने दियासलाई रखकर सोने का आदी हूँ। दियासलाई का एक बक्स महीनों चल सकता है। पर सिरहाने रोज नया बक्स रखा जाते देखकर मुझे घरवालों की फिजूलखर्ची पर क्रोध आया। मैंने पूछताछ की तो मालूम हुआ कि दियासलाइयाँ तो घर में से भी गायब होती रहती हैं।

दातादीन पर शक हुआ। अपनी खाट के नीचे चीड़ के एक फटे-पुराने बक्स में उसने अपनी दुनिया बटोर रखी थी। मैंने उसकी तलासी ली तो उस बक्स में दियासलाई के कई भरे और कई खाली बक्स

मिले, एक चम्मच, एक कटोरी और कुछ पुराने कपड़े भी मिले, जो मेरे बच्चों के थे।

मुझे बहुत क्रोध आया। दातादीन को बुलाकर चोरी की सब चीजें उसके सामने रखवाकर मैंने पूछा—ये क्या है रे चोर ?

दातदीन के चेहरे पर तो भय का नाम-निशान तक नहीं दिखाई पड़ा, उसने बहुत ही शान्त-भाव से जवाब दिया—सरकार, अब मेरा दाना-पानी आपके यहाँ से उठ गया। अब नौकर-चाकर सब मेरे पीछे पड़ गए है, तब मेरी रहाइस कैसे हो सकती है ? मैं भगवान की कसम खाता हूँ, गंगा की कसम खाता हूँ, अपने दो नातियों की कसम खाकर कहता हूँ कि मैंने चोरी नहीं की।

दातादीन ने एक नई पेंच मारी। इतनी कीमती कसमों के बाद अब उसका मुकाबिला करने की शक्ति किसमें थी ? सब बादल तितर-बितर हो गये।

दूसरे दिन दातादीन को बुलाकर मैंने कहा—देखो, दातादीन ! तुम चोरी छोड़ दो, मैं तुम्हारी तनख्वाह दो से तीन रुपए किये देता हूँ।

उसे बाजार में ले जाकर अपने पैसे से एक जोड़ी जूता, कुरता, धोती और सिर पर बाँधने का फेंटा खरीद दिया। मैंने सोचा इन्हें पहनकर अब यह अपने को कुछ भला आदमी समझने लगेगा और चोरी करने में शरमायेगा।

अगले दिन मैं इलाहाबाद चला गया। इसके कई दिन बाद एक रोज घर से बाहर सन्नाटा पाकर वह एक गठरी लेकर बस्ती की ओर चला। मेरा घर और बाग, जिसमें मेरा परिवार रहता है, बस्ती से बिलकुल बाहर है।

दातादीन को एक गठरी लिये हुए जाते देखकर मेरे भान्जे ने उसे पुकारा। दातादीन भगा। भान्जे ने खदेड़कर उसे पकड़ा और उसे पीटा भी। फिर उसकी चोटी पकड़कर वह उसे घर के सामने घसीट लाया। गठरी खोली गई तो उसमें शीशियाँ, कटोरी, एक बोतल, दियासलाई और

अगड़म-बगड़म कितनी ही चीजें मिलीं। वह अपने दोस्त बनिए के यहाँ उन्हें रखने ले जा रहा था।

दूसरे दिन दातादीन नौकरी छोड़ कर चला गया।

महीनों बाद में घर आया तो दातादीन का हाल सुनकर अफसोस के साथ संतोष भी हुआ कि चलो पिंड छूटा।

अगले महीने जब मैं फिर घर आया तो एक दिन तीसरे पहर देखता क्या हूँ कि दातादीन झुक कर सलाम कर रहा है। मैंने पूछा—क्यों दातादीन कहाँ चले?

दातादीन ने बडी नम्रता से, आँखों में आँसू भर कर कहा—सरकार की सरन में आया हूँ। नौकरी चाहता हूँ।

दातादीन की चोरी की आदत छुडाने की प्रतिज्ञा मुझे फिर याद आई। मैंने पूछा—अब तो चोरी नहीं करोगे।?

दातादीन ने कहा—कान पकड़ता हूँ हुजूर, अब कभी कोई चीज नहीं छुऊँगा।

मैंने उसे फिर नौकर रख लिया। आमों के दिन थे। दातादीन को साथ लेकर मैं बाजार गया और कुछ आम खरीदकर उसके हाथ मैंने घर भजे। घर के सब लोगों ने आम खाए, दातादीन को भी काफी आम मिले। अगले दिन अपनी कोठरी खुली छोडकर और कडी धूपमें खाली पैर वह किसी काम से बाजार गया था। किसी ने उसकी कोठरी में जाकर देखा तो उसके दोनों जूते अलग-अलग पट रखे हुए थे। जूतों को इस तरह पट रखने का कोई रिवाज नहीं है। कौतूहल वश वह उलटकर देखा गया तो हर एक जूते के नीचे चार-चार आम पड़े मिले। जूते फिर ज्यों के त्यों रखवा दिये गए और उस दिन दातादीन को कुछ न कहा गया।

अगले दिन मैंने बाजार से गुड़ खरीदकर दातादीन के हाथ घर भेजा। स्त्री ने गुड़ तौला तो वह कम निकला। दातादीन अपनी सफाई देने के लिए उठ खड़ा हुआ तो उसकी काँछ के नीचे से एक भेली निकलकर जमीन

पर गिर पड़ी। मेरी स्त्री ने कहा--तुम बुढ्ढे हो गये तुमको चोरी करते शरम नहीं आती?

भेली उसको दे दी गई।

दातादीन अक्सर अपनी पतोहू की शिकायत किया करता था कि वह बड़ी दुष्टा है, उसे खाने को नहीं देती, चैलों से मारती है, बाप की खूराक ज्यादा है, यह समझकर बेटा उसकी थाली में एक रोटी ज्यादा रख देता था तो पतोहू उसकी थाली में से रोटी निकालकर पति की थाली में रख देती थी और कहती थी कि तुमको तो कल काम करना है, पेट काटोगे तो खड़े कैसे रहोगे---इत्यादि।

मैं भी समझने लगा था कि पतोहू सचमुच दुष्ट स्वभाव की होगी। पर दातादीन की करतूतें देखकर मुझे सन्देह हुआ कि शायद दातादीन ही का अपराध होगा।

अगले दिन मैंने चुपके से अपना दूसरा नौकर दातादीन के घर भेजा और उससे कहा कि राही बनकर दातादीन के घर पर शाम को ठहर जाना और घर के लोगों का पूरा हाल-चाल लाना।

मेरे यहाँ से दातादीन का घर दस-बारह मील की दूरी पर है। नौकर शाम को दातादीन के घर पर पहुँचा और रात भर ठहरने के लिए उसने जगह माँगी। दातादीन का लड़का घर पर नहीं था। पतोहू ने नौकर को दालान में ठहरा दिया और लकड़ी, बरतन और पानी के लिए गगरा भी दिया। नौकर ने खाना बनाया। पतोहू खटाई भी दे गई और उसने रोटियाँ भी बनवा दीं। नौकर ने घर का हाल पूछना शुरू किया। पतोहू ने घर के एक-एक प्राणी का कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। उसकी बातों से मालूम हुआ कि बच्चों के लिए वह कलेवा रखती थी तो दातादीन बड़े सवेरे चुपके से घर के अन्दर घुसकर रोटियाँ निकाल ले जाता और कहीं आड़ में बैठकर खा जाया करता था। पतोहू जब रोटियाँ न पाती और हल्ला मचाती, तब दातादीन कहता कि घर खुला छोड़कर चली जाती हो कुत्ते-बिल्ली खा गये होंगे।

झगड़े का मूल कारण यही था। पतोहू बेचारी तो बहुत नेक और गरीब स्वभाव की है। नौकर ने दूसरे दिन लौटकर यह रिपोर्ट दी। सुन-कर दातादीन से मेरी घृणा बहुत बढ़ गई।

घर की रखवाली के लिए मैंने एक कुतिया पाल रक्खी थी। उसे सवेरे आधा सेर दूध मिलता था। घोसी के यहाँ से दूध लाने का काम दातादीन के सुपुर्द था। दातादीन दूध दुहाकर लाता तो आधा दूध रास्ते में स्वयं पी जाता और आधा कुतिया को देता। एक दिन कुतिया को देने के पहले ही उसका दूध नापा गया तो कम निकला और यह बात बैठा ली गई कि दातादीन पी जाता होगा।

मैंने हुक्म दे रक्खा था कि बाग में कोई बाहर का आदमी घास छीलने न पावे। पर घसियारिनों को तो दातादीन की कमजोरी मालूम हो गई थी। एक चिलम तम्बाकू देकर कोई भी घास छील ले जाता था। छिले हुए मेड़ों को देखकर मैं पूछता कि घास कौन छील ले गया? तो दातादीन कहता—सरकार, मैंने गाय के लिए छीला है। मै सुनकर मन ही मन कहता कि दातादीन घर का काम-काज भी करता है और गाय बैलों की सँभाल भी रखता है। बड़ा अच्छा आदमी है। मेरा बाग स्टेशन के बिलकुल सामने है। एक दिन में शहर से स्टेशन होकर बाग में आ रहा था कि दातादीन हाथ में डंडा लेकर बाग के दूसरे कोने की ओर जोर-जोर से, ताकि मैं सुन लूं, यह कहता हुआ झपटा कि ससुरी, मानती नहीं, खड़ी रहे, आज तेरा हाथ तोड़े बिना न मानूंगा। साथ ही वह धीरे से कहता था—'बाबू जी आ रहे हैं, जल्दी निकल जा।' फिर जोर से कहता—'धर खुरपा-झौवा। चल थाने ।' फिर धीरे से कहता—घास को आड़ में लुका दे, फिर ले जाना। बाबू जी घर के अन्दर चले जायँ, तब।

में जैसे-जैसे निकट आता जाता, दातादीन की तड़प-झड़प बढ़ती ही जाती। जबतक में दरवाजे पर पहुँचता, तब तक दातादीन भी घसियारिन को बाग के बाहर करके आ पहुँचता।

यही नाटक एक दिन दातादीन फिर कर रहा था, उसे मालूम नहीं

था कि बाग का एक दूसरा नौकर पास ही एक पेड़ की आड़ में थाले निरा रहा था। दातादीन की दो तरह की बोली सुनकर उसने कहा—दो तरह की बोली क्यों बोलते हो? मालिक के साथ क्यों छल करते हो?

दातादीन सिटपिटा गया। मैं इतने निकट आ गया था कि मैंने दूसरे नौकर की बात सुन ली थी। मैंने पूछा—क्या बात है?

दोनों में पटती नहीं थी। दूसरे नौकर ने दातादीन को दो तरह की बोलियों का किस्सा सुनाया।

मुझे दातादीन पर बहुत क्रोध आया। मैं आँख कड़ी करके उसकी ओर देखने लगा। वह जमीन पर आखें गड़ाए हुए चुप। मैंने कहा—अब मैं तुमको पुलिस के हवाले कर दूंगा।

दूसरे दिन दातादीन ने घर जाने की छुट्टी माँगी, मैंने खुशी से दे दी। मैंने यह भी नही पूछा कि फिर लौटकर कब आओगे।

कई महीने बीत गए। घरवालों को दातादीन के बिना कुछ कष्ट तो अनुभव होने लगा, पर मेरा अन्दाज है कि स्त्री और लड़कियों ने सुख ही की साँस ली, क्योंकि दोनों वक्त दातादीन के लिए भीमसेन की खूराक तैयार करना उनके लिए भयानक दंड था।

मेरे छोटे लड़के बसंत को दातादीन ने अपनी सेवा से जीत लिया था। एक दिन बसंत को दातादीन के गाँव का कोई आदमी मिला। उसने दातादीन का संदेशा कहा कि वह उसको बहुत याद करता है। बसंत ने मौका देखकर मुझसे कहा—बाबू! दातादीन को फिर बुला लीजिए।

मैंने दातादीन को बुलाने के लिए आदमी भेजा। दूसरे दिन वह दातादीन को लेकर लौटा और उसने यह किस्सा सुनाया कि दो-तीन दिन हुए, दातादीन मरने के लिए कुए में कूद पड़ा था। किसी ने देखा नहीं। कुछ देर के बाद यह कुएँ में से यह कहकर चिल्लाने लगा कि 'कोई सुनता हो तो मुझे निकाल लो, मुझसे मरा नहीं जाता है।'

एक बुढ़िया ठकुराइन ने इसकी पुकार सुनी और उसने इसे निकलवाया। तब से यह उसी ठकुराइन के बरामदे में पड़ा था।

मुझे दातादीन पर दया आई, मैंने कहा--दातादीन, तुमने तो अपने शरीर की सब गत कर डाली।

वह कुछ बोला नहीं। मै तो समझ ही गया कि इसने बच्चों की रोटियाँ चुराकर खाई होगी और पतोहू ने इसे पीटा होगा।

खड़े-खड़े वह आँसू बहाता रहा। मैंने समझा कि वह पछता रहा है।

मुझे महीने-दो महीने पूज्य मालवीय जी के पास काशी में रहना था। अबकी बार दातादीन को मैं अपने साथ ले गया।

मालवीय जी महाराज के बँगले के एक कमरे में मै ठहरा। दातादीन को मैंने सब जरूरी काम समझा दिए। खाना हम दोनों महाराज ही की रसोई में खाते थे। मेरी स्त्री और लड़कियों की बला महाराज के रसोइये पर आई। पर वह होशियार था। भात का पहाड़ दातादीन के सामने रख देता, और छुट्टी पा जाता।

महाराज के लिए दूध विश्वविद्यालय की डेरी से आया करता था। उसी में से आधा सेर दूध शाम और सबेरे मेरे लिए भी मिला करता था। कभी दूध खालिस मिलता और कभी पानी मिला हुआ। मैंने एक दिन दातादीन से इसकी शिकायत की। दातादीन आँखें फाड़कर, नाटक के पात्रों की तरह मुह बनाकर बोला---दूधवाला पानी का एक बड़ा घड़ा भी साथ लाता है। वही मिलाता है।

मुझे दातादीन पर इतना क्रोध आया कि उसे एक लप्पड़ लगाऊँ। पर न जाने क्या समझकर मैं शान्त रह गया। मै तो समझ ही गया कि दातादीन आधा दूध पीकर पानी मिला देता है।

खैर; उस दिन से मैं एक पाव दूधमें चाय मिलाकर एक गिलास भरकर पहले दातादीन को देने लगा। फिर एक पाव दूध में चाय मैं लेने लगा। इस रिश्वत का परिणाम यह हुआ कि अगले दिन से खालिस दूध मिलने लगा।

अब दातादीन मेवों के डब्बे पर टूट पड़ा। मैंने एक डब्बे में कुछ मेवे जलपान के लिए और मिलनेवालों के सत्कार के लिए रख छोड़े थे। अब

वे रोज कम होने लगे। आज खरीदकर लाया और कल गायब। पूछने पर दातादीन कहता—आपकी गैरहाजिरी में जो इस कमरे में आते हैं, वे ही डब्बा खोलकर खा जाते हैं।

उसका उत्तर सुनकर मैं भीतर ही भीतर क्रोध से जल उठा। मेरे मित्र ऐसे नहीं हैं, जो मेरी अनुपस्थिति में मेरा डब्बा खोलकर मेवे खा जाते। उस दिन से मैंने मेवा खाना ही छोड़ दिया।

काशी से मैं इलाहाबाद आया। दातादीन भी साथ था। इलाहाबाद में वह एक अहीर के यहाँ से दूध लाया करता था। कभी पानी मिला हुआ लाता, कभी खालिस। आठ ही दस दिन के बाद एक दिन मैंने देखा कि अहीर की गायें मेरे दरवाजे पर खड़ी हैं और दातादीन उनको रसोई का बचा हुआ खाना डाल रहा है। कई दिन मैंने उसे ऐसा करते देखा। मुझे शक हुआ कि इतना खाना रोज बचता क्यों है? और इसी अहीर की गायें रोज आती क्यों हैं?

मैंने एक दूसरे नौकर को दातादीन के पीछे लगाया। उसने भेद लेकर खबर दी कि अहीर रोज आधा पाव दूध दातादीन को पिलाता है, उसके बदले में वह मेरे दूध में उतना पानी मिला देता है और दातादीन उसकी गायों को रोज का बचा हुआ खाना देता है। अब मालूम हुआ कि दातादीन रोज क्यों ज्यादा आटा सानता है और क्यों ज्यादा चावल डालता है?

मैं तो दातादीन से परेशान हो गया। एक दिन ज्यादा खाना खाने से उसे दस्त आने लगे। तीन-चार रोज तक वह पोंकता रहा। तब मैंने डाक्टर से दवा मँगाई। दवा के बारह आने लगे। मुझे खल गया। वह खाना भी खराब करे और फिर दवा का दाम भी मुझे देने पड़ें, मैं सोच-विचार में पड़ गया कि इसको क्या करूँ?

दस्त बन्द होते ही दातादीन ने घर जाने की छुट्टी माँगी। मैंने तत्काल छुट्टी दे दी।

महीने-डेढ़ महीने बाद मैं घर आया तो दातादीन को मैंने घर में काम करते पाया। घर में घोसी के यहाँ से दूध आता है। घोसी मुसलमान होते हैं। मैंने कह दिया था कि घोसी के बरतन में दुहा हुआ दूध न लाना, अपने बरतन में दुहा कर लाना। और सामने खड़े होकर दुहाना।

दूध पानी मिला हुआ मिलने लगा। मैंने डाट-डपट की। एक दिन दूध सेर के बदले सवा सेर आया। मैंने पूछा तो दातादीन ने कहा—भूल से घोसी ने ज्यादा दे दिया होगा।

मैंने जाँच-पड़ताल शुरू की तो यह प्रकट हुआ कि दातादीन बड़े सबेरे घोसी के घर जाता है। घोसी चिलम चढ़ाकर दातादीन को पीने के लिए देता है और रात का रक्खा हुआ बासी दूध दातादीन के लोटे में उँड़ेल देता है। दातादीन दूध लेकर चलता है और रास्ते में आधा पी लेता है। फिर घर आकर दूध छानते वक्त अन्दाज से उतना ही पानी मिला देता है। उस दिन अन्दाज में गलती हुई और दूध सेर का सवा सेर हो गया।

मैंने दातादीन को बुलाया और हाथ जोड़कर कहा—दातादीन, मैं हार गया, तुम जीत गए। अब मेरा पिंड छोड़ो।

दातादीन उसी दिन घर चला गया।

चौहत्तर बरस का जवान

कहानी—सोचने की चीज नहीं; समझने की चीज है। आदमियों की तरह कहानियां भी दुनिया में हर वक्त पैदा होती और मरती रहती हैं। जिन कहानियों को जन्म देने में आदमी की जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा खर्च हुआ रहता है उनकी उम्र लंबी होती है और वे सदियों तक जिन्दा रहती हैं। और जो कहानियाँ मामूली ढंग पर पैदा होती हैं, उनकी उम्र भी कम होती है। किसी-किसी कहानी की उम्र तो घंटे, दो घंटे ही की होती है। इस कान से उस कान गई और खतम। लेकिन कितनी ही कहानियों के पैदा होने में कई बरसों का वक्त लग जाता है। राम की कथा में चौदह बरस लगे थे।

हर एक स्त्री-पुरुष, हरएक बच्चा, बुड्ढा और जवान—हरवक्त कहानी रचता रहता है। कोई-कोई तो अपनी जिन्दगी में सैकड़ों कहानियाँ बना डालते है। अगर फ़ी आदमी दस कहानी का औसत मान लो तो ३६ करोड़ की आबादीवाले हिन्दुस्तान में तीन अरब साठ करोड़ कहानियाँ हरवक्त उसी तरह किलबिला रही हैं, जिस तरह आदमी। ऐसा मालूम होता है कि आदमी कहानी ही बनाने के लिए जन्मा है। इसी से मैंने ऊपर लिखा है कि कहानी सोचने की चीज नहीं, समझने की चीज है। किसी भी आदमी के पास से कहानी ले सकते हो, अगर उस आदमी को ठीक-ठीक समझ सकते हो तो।

यहाँ मैं एक कहानी सुनाता हूँ, जिसके सोचने के लिए मैंने जरा भर भी मेहनत नहीं की; बल्कि कहानी पढ़कर जान लोगे कि कहानी जबर-दस्ती मेरे दिमाग में घुस आई थी।

कई बरस हुए एक दिन मैं अपने गाँव में घर के सामने, नीम के पेड़ के नीचे, खाट पर पड़े-पड़े अखबार पढ़ रहा था। शाम का वक्त था।

गाँव के बाजार का दिन था। किसान लोग बाजार से अपने-अपने घर वापस जा रहे थे। मेरा घर गाँव के रास्ते पर है। उस रास्ते से भी कुछ लोग जा रहे थे। सबसे अखीर में जो आदमी उधर होकर बाजार से आया, वह एक किसान था और वह आकर मेरी खाट से थोड़ी दूर पर खड़ा हो गया। मैं अखबार पढ़ने में बिलकुल बेखबर हो रहा था। उसने बड़ी आजिजी से कहा—आप चना लेंगे? मैं अखबार में जरूरी खबरें पढ़ रहा था; मुझे उसका छेड़ना पसंद नहीं आया। फिर भी भलमनसाहत के तकाजे से मैंने उसे जवाब दे दिया—नहीं। पर उसको तो पैसे की जरूरत थी; वह यों ही कैसे छोड़ने लगा। उसने फिर पहले ही जैसी मुलायम आवाज में कहा—मुझे आठ आने पैसे की बड़ी जरूरत है। यह चना बाजार में बेचने लाया था; नहीं बिका। अगर आप ले लेंगे तो मेरी कल इज्जत बच जायगी।

यह जरा जोरदार बात थी। इज्जतदार आदमी को इज्जत का मान रखना ही पड़ता है। मैंने उससे जल्दी पिंड छुड़ाने के लिए पूछा—कितना चना है?

उसने कहा—चार पंसेरी। (देहात का आठ सेर)।

मैंने कहा—चना घर में दे दो और आठ आने पैसे ले लो।

साथ ही अपनी स्त्री को पुकार कर मैंने कह दिया कि आठ आने पैसे देकर चना रख लो।

किसान चने देकर और आठ आने पैसे लेकर अपनी राह लगा।

तीसरे दिन पहर दिन चढ़े मैं उसी जगह, उसी खाट पर, लेटे-लेटे कोई पुस्तक पढ़ रहा था। वह किसान फिर आया। पास आकर उसने कहा—यह चने ले लीजिए।

मैं झुंझला उठा। मैंने कहा—न मेरे घोड़ा है, न मैं ही चने का शौकीन हूँ; अभी परसों चने दे गये हो, इतने चने लेकर मैं क्या करूँगा? एक क्षण बाद फिर घुड़ककर मैंने कहा—जाओ, बाजार में बेंचो। इज्जत जाने की

बात सुनकर मैंने एक दिन ले लिया, अब तुमने गोया नानी का घर देख लिया; फिर आकर सिर पर सवार हो गये।

मैंने देखा कि मेरे गुस्से का उस पर कुछ असर नहीं पड़ा। वह शांत भाव से खड़ा ही रहा। जब मैं फिर पढ़ने लग गया, तब उसने कहा—आप ही के चने हैं, इसे किसी बरतन में रखवा लीजिये।

सचमुच मैं आपे से बाहर हो गया। मैंने डाटकर कहा—मुझे चने नहीं चाहिए; जाओ।

इस पर भी वह नहीं टला। बल्कि उसने अविचलित भाव से फिर कहा—उस दिन मैं चने कम दे गया था; आज उसे पूरा करने के लिए ले आया हूँ।

मैंने गरमी ही में कहा—कम क्यों दे गये थे?

उसने कहा—शाम को चार पंसेरी चने तौलकर मैंने रक्खे थे। बहू ने रात में घर-खर्च के लिए उसमें से दो सेर चने निकाल लिये थे, उसने मुझे बतलाया नहीं था और मैं चार पंसेरी ही समझकर बाजार लाया था और उतना ही कहकर आपको दे गया था। आपने तौलाया नहीं, मुझ पर एतबार करके उसे वैसा ही रखवा लिया था। घर जाकर जब मैंने बहू को पैसे दिये, तब उसने कहा कि दो सेर चने उसने निकाल लिये थे। मैं रात ही में आता, लेकिन मेरे घर मेहमान टिके थे; मैं आ न सका। दूसरे दिन भी मैं छटपटा के रह गया। लड़के सब खेत में काम करने चले गये, मेहमानों के पास मेरा बैठना जरूरी था। इससे आज आया हूँ।

सत्य की उस मूर्ति को देखकर मैं तो अवाक् हो गया। पोथी-पत्रा, जो हाथ में था, मैंने दूर रख दिया; खाट पर उठकर बैठ गया और उसकी आदमियत का मूल्य आँकने लगा।

बीसवीं सदी में, अँगरेजी राज्य में, इतनी सचाई! क्या ताज्जुब की बात नहीं थी? उसके साथ अब तक मैं बड़ी रुखाई से पेश आता रहा, मुझे भीतर ही भीतर इस बात की शर्म आने लगी। मैंने उसे खातिर से खाट पर बैठने को कहा, पर वह बैठा नहीं। मुझे पढ़ा-लिखा आदमी

समझकर शायद वह अपने को तुच्छ समझता होगा। मैंने देखा कि पढ़ा-लिखा होने से जहाँ मुझे उसके और नजदीक होना चाहिए था, वहाँ हम दोनों के दर्म्यान काफी फासला हो गया था। पढ़ने-लिखने की इससे बड़ी सजा और क्या होगी कि आदमी आदमी से दूर हो जाय।

वह जमीन पर बैठ गया। मुझे अब उससे बातें करने में रस आने लगा। मैंने पूछा—कल बाजार का दिन है। कल आते वक्त चने लेते आते? आज क्यों आये?

उसने कहा—मुझे तो एक-एक छन पहाड-सा लग रहा था। मैंने आपको धोखा दिया था, आपने मेरा एतबार किया था। मुझे इसकी बडी शरम थी। उस दिन रात-भर मैं इसी फिक्र में पड़ा रहा।

मैं उसकी ओर और भी खिंचा। यह आदमी इतना सच्चा है तो लाओ इसकी रोजाना की जिन्दगी का परदा उठाकर तो देखूं; सचाई ने वहाँ क्या-क्या गुल खिलाये हैं। या खुद सचाई उसमें टिकी कैसे है?

मैंने पूछा—तुम्हारी उम्र क्या है?

उसने कहा—चौहत्तर साल।

मैं भौंचक-सा होकर उसकी ओर देखने लगा—चौहत्तर?

वह मुसकुरा उठा। उसने पूछा—आप कितना समझते हैं?

मैंने कहा—ज्यादा से ज्यादा चालीस-पैतालीस।

एक लंबा तगड़ा आदमी; चेहरे पर झुरियाँ नहीं; कमर सीधी, हाथ-पैर मजबूत; आँखों में ताकत; आकृति में मीठी-मीठी गंभीरता; और सबसे अचरज की बात यह कि सिर के बाल भी काले; और उम्र चौहत्तर बरस! वह कोई पढ़ा-लिखा या ग्रेजुयट होता तो मैं फौरन कह देता कि तुम कई पुश्तों के लबार हो। पर जो दो सेर चने की गलती दुरुस्त करने आया है, वह कहीं झूठ बोल सकता है?

अब मेरे दिल में यह खयाल पैदा हुआ कि आओ, इससे इसकी तन्दुरुस्ती और इतनी लंबी उम्र तक जवानी कायम रखने की असलियत क्या है, यह दर्याफ्त करूँ। मैंने पूछा—कै लड़के हैं?

उसने कहा—चार।

मैंने पूछा—कितने-कितने बड़े हैं!

उसने कहा—चारों पूरे मर्द हो चुके हैं। सबके लड़के हैं। दो बड़े लड़कों के भी लड़के हैं।

मैंने पूछा—तुम तो अब घर पर बैठते होगे?

उसने ज़रा गर्व जतलाते हुए कहा—घर पर क्यों बैठूंगा? अभी मै उन चारों को काम मे हरा देता हूँ। मैं अपनी ही कमाई खाता हूँ, बाबू जी!

निश्चय ही यह गर्व की बात थी। मैंने पूछा—कुछ पढ़े लिखे हो?

उसने कुछ अफ़सोस ज़ाहिर करते हुए कहा—पढ़ा-लिखा तो कुछ नहीं, बाबू जी!

मैं मन में कहने लगा—तुम हजारों पढ़े-लिखों से कहीं अच्छे हो। पढ़े-लिखे होते तो दो सेर चने लेकर शायद ही आते।

मैंने फिर पूछा—और लड़के?

उसने कहा—गाँव के मदरसे में लड़कों ने दर्जा दो तक पढ़-पढ़कर छोड़ दिया।

मैंने कहा—अच्छा किया; नहीं तो वे किसान न होकर इस वक्त कहीं मुदर्रिस होते।

मेरी राय मे राय मिलती हुई जानकर उसने स्वभावतः उत्तेजित होकर कहा—और क्या? मदरसे में जो पढ़ता है, वह मुदर्रिस ही तो होता है। न अहीर का लड़का अहीर रह जाता है, न चमार का लड़का चमार और न कुरमी-काछी का लड़का कुरमी-काछी; सब मुदर्रिस बन जाते है।

मैं सोचने लगा—मदरसों मे जो शिक्षा दी जाती हैं, उसकी इससे अच्छी समालोचना और क्या हो सकती है? गाँव के अपढ़ आदमी भी अब मदरसे की शिक्षा की खामी समझने लगे हैं।

मैंने फिर पूछा—तुम खाते क्या हो?

उसने कहा——दाल-रोटी।

मैंने पूछा——तरकारी?

उसने कहा——कभी कभी, मिल गई तो।

मैंने पूछा——गुड़ और खटाई?

उसने कहा——साल में दो तीन बार।

मैंने पूछा——दो ही तीन बार? कब कब?

उसने लापरवाही से कहा——बस, वही होली-दीवाली को पक्की रसोई बनती है, तब कोई मीठी चीज और अचार-खटाई खा लेता हूँ

मैंने पूछा——रोज अचार-खटाई या गुड़ खाने की आदत नहीं? गाँव के लोग तो गुड़ बहुत खाते हैं?

उसने कहा——लड़कपन ही से मुझे इन चीजों का शौक नहीं रहा।

मैंने पूछा——घर में दूध है?

उसने खुशी जाहिर करते हुए कहा——दो गायें, दो भैंसे रखता हूँ। भगवान् की कृपा से घी दूध की कमी नहीं है, बाबू जी!

मैंने पूछा——दूध रोज पीते हो?

उसने कहा——दूध लड़के पीते हैं। मैं कभी-कभी तिथि-त्योहार के दिन ले लेता हूँ। हाँ, मट्ठा पीने का शौक जरूर है। सो भी कभी बचा-खुचा रह गया तो।

मैंने पूछा——रोज क्यों नहीं पीते?

उसने कहा——कोई न कोई साधू अभ्यागत आते ही रहते हैं, उन्हें पिला दिया करता हूँ। जिस दिन कोई नही आता, उस दिन मैं भी पी लेता हूँ।

मैंने पूछा——घी खाते हो?

उसने कहा——घी बेंच लेता हूँ। उसी से मालगुजारी अदा कर देता हूँ। थोड़ा-बहुत खाया भी जाता है।

मैंने पूछा——और बाहरी से खर्च क्या है?

उसने कहा—घर भर का बाहरी खर्च तो बहुत-सा है। पर मेरा काम तो साल भर में दो धोती, एक अँगोछा और एक जोड़े चमरौधे जूते से चल जाता है।

वह धोती और जूता पहने था। अँगोछे में चने बाँधे हुए था। बदन पर और कोई कपड़ा नहीं था।

मैंने पूछा—कुरता, कोट या मिर्जई नहीं पहनते?

उसने कहा—न मैं कहीं आऊँ, न जाऊँ, मुझे इन कपड़ों की क्या जरूरत?

मैंने पूछा—क्यों? आते-जाते क्यों न होगे? पद-पंचायत में तो जाते ही होगे? अदालत में गवाही देने गये ही होगे?

उसने झट-से बात उठा ली और कहा—न, न, बाबू जी मैं दुनिया के परपंच में नहीं पड़ता। लोग पंचायत के लिए मुझे बुलाने आते हैं, मैं नहीं जाता। अब ईमान कहीं रह नहीं गया। अदालत तो आज तक मैंने देखी ही नहीं कैसी होती है।

ताज्जुब की बात थी कि बीसवीं सदी का किसान, और अदालत से अपरिचित!

मैंने पूछा—पुलिस और जमींदार से कैसे बचे रहते हो?

उसने कहा—मालगुजारी ठीक वक्त पर दे देता हूँ। जमींदार से झगड़ा होता ही नहीं। गाँव के झगड़ो में पड़ता ही नहीं; पुलिस से मेरा क्या वास्ता? दरवाजे पर छोटा-बड़ा जो कोई आ जाता है, सबकी खातिर बात जो हो सकती है, कर देता हूँ। इससे सभी खुश रहते हैं। और असल बात यह है कि मुझे अपनी खेती-बारी ही से फुरसत नहीं मिलती; कैसे जाऊँ?

मैंने पूछा—मेले-ठेले में नहीं जाते?

उसने कहा—साल में दो-चार बार से ज्यादा नहीं। सो भी नाती-पोतों को दिखाने के लिए ले जाता हूँ। मैं भी देख लेता हूँ।

मैंने पूछा—रोज की तुम्हारी रहन-सहन क्या है?

उसने कहा—सूरज निकलने से पहले ही मैं उठता हूँ और सूरज निकलते निकलते दिशा-मैदान से निपटकर काम में लग जाता हूँ। घर पर काम रहा तो, घर पर, नहीं तो खेतों की तरफ निकल जाता हूँ। किसान के घर में तो काम ही काम रहता है; करनेवाला चाहिए।

मैंने पूछा—फिर?

उसने कहा—बस, जब सूरज सिर पर आजाता है, तब नहाता हूँ और जो कुछ मिला, खा-पीकर थोड़ी देर तक सो लेता हूँ। फिर उठकर घर पर या खेत पर जो काम होता है, उसमें लग जाता हूं। शाम को काम बन्द करके घंटा रात बीते तक घर आता हूं। खा-पीकर कुछ देर तक बात-चीत करता हूं और सो जाता हूं।

मैंने पूछा—कोई अमल नही खाते?

उसने कहा—रोटी दाल के सिवा और कोई अमल नही खाता।

मैंने पूछा—खाने-पीने की चीजों में तुम्हें किस चीज का ज्यादा शौक है?

उसने मुसकुराते हुए कहा—आम का। जिस दिन भर पेट आम मिल जाता है, उस दिन रोटी नही खाता। कच्चे आम की खटाई दाल में पड़ती है, तो वह दाल भी अच्छी लगती है। पर मैं कभी दाल में खटाई डालने के लिए घर में किसी को कहता नही; पड़ी-पड़ाई मिल जाती है तो खुश होकर खा लेता हूं।

मैंने पूछा—कै हल की खेती होती है?

उसने कहा—मेरे बाप के जमाने में दो हल की खेती होती थी। अब चार हल की खेती होती है।

ऐसी किफायत की जिन्दगी और फिर अथक मेहनत, घर की तरक्की होने में रुकावट ही क्या होती? मैने उसके चने रखवा लिये, अपनी रुखाई के लिए उससे क्षमा माँगी और उसे प्रेम से बिदा किया।

उसके चले जाने के बाद मैं आदमी की जिन्दगी के अनेक पहलुओं पर गौर करने में लग गया। अगर वह आदमी थोड़ा पढ़ा-लिखा होता

तो? वह कहीं नौकर हुआ होता और न उसके घर की माली हालत अच्छी होती और न वह इतनी लम्बी उम्र तक तन्दुरुस्त ही बना रहता।

और अगर वह किसी युनिवर्सिटी का ग्रेजुएट होता तो? तो वह शायद ही इतनी उम्र तक जीता रहता। वह कई बरस पहले ही अखबारों की चीज हो गया होता। और अगर जीता भी रहता तो वह हरगिज ऐसा तन्दुरुस्त न रहता। छल-कपट के जोर से वह शायद अपनी आमदनी बढ़ा लेता, लेकिन निजी मेहनत से वह अपने बाप की छोड़ी हुई जायदाद को दूनी कर लेता या नहीं, इसमें शक है। रेल, तार, डाक और अखबारों से जो चिन्तायें रोज पढ़े-लिखे आदमियों को बाँटी जाती है और उनको जो इस बात के लिए भी अपने दिमाग का कुछ हिस्सा खर्च करना पड़ता है कि टिम्बकटू के एक जंगल में एक गड़रिये ने एक चीते का मुकाबिला किया, और उसे मार डाला। लेकिन चीते ने भी उसे घायल किया और वह अस्पताल में पड़ा है। या भोगाँव में एक बकरी के दो मूंड़वाला बच्चा पैदा हुआ, इत्यादि; वह बला इस किसान के दिमाग में किसी तरह नही पहुँच सकती। इससे उसकी चिंता भी इसे नहीं है। साथ ही इसके निजी खर्च इतने कम है कि थोड़ी कमाई से भी यह अपना गुजारा कर सकता है। न इसे दर्जनों कुरते-कमीज की जरूरत न तीन-चार जोड़े बूटों की आवश्यकता; न टाई और कालर का झंझट; न तेल-साबुन और कंघी और शीशे की कबाहत और न चाय और बिसकुट का चसका। इससे तो यही नतीजा निकलता है कि आजकल के ग्रेजुएट से गाँव का अपढ़ किसान ज्यादा सुखी है। अब यह नतीजा भी निकाला जा सकता है कि शिक्षा के तरीके में खराबी है; जिससे शिक्षा पाया हुआ आदमी अपनी और दुनिया भर की चिंताओं के बोझ से अपनी उम्र कम कर लेता है और चिंताओं की सँभाल में अपनी आमदनी का ज्यादा हिस्सा खर्च करके हमेशा पैसे का मुहताज बना रहता है। वह तन्दुरुस्ती की फिक्र में परेशान रहता है और अपने को सभ्य समझकर

सब झंझटों का बोझ उठाये फिरता है। पर मनुष्य की सच्ची सभ्यता क्या इस किसान की उस सचाई में नहीं है, जो उसने चने लाकर प्रकट की है?

ग़रीब का हृदय

आज-कल के पढ़े-लिखे लोग देहातवालों को बिलकुल गँवार समझते हैं, और यदि उनसे घृणा नहीं करते तो उनकी उपेक्षा तो जरूर ही करते हैं। वे आज-कल की काट के कपड़े पहनना नहीं जानते; शहराती शिष्टाचार से भी नावाकिफ होते हैं, चमकती-दमकती महावरेदार भाषा भी वे बोल नहीं सकते; और वे गन्दे, काहिल और भोले भी होते हैं; पर क्या उनमें मनुष्यता का भी अभाव होता है? कम से कम मेरा अनुभव तो इसके बिलकुल उलटा है। मुझे देहातों में भ्रमण करने का खूब मौका मिला है। मैं देहातियों के अन्दर रहा भी काफी हूँ, इससे मैं जिम्मेदारी के साथ कह सकता हूँ कि देहात के लोग शहराती चाल-ढाल में चाहे बिलकुल ही कोरे साबित हों, पर मनुष्यता का सर्वोत्तम अंश उनमें किसी भी सभ्य कहे जानेवाले व्यक्ति से कम नहीं होता।

यहाँ मैं एक सच्ची घटना सुनाता हूँ, जिससे मेरे कथन की सचाई मालूम होगी।

मेरा जन्म जौनपुर जिले के एक गाँव में हुआ था। देहाती स्कूल की पढ़ाई के बाद मैं शहर में पढ़ने गया और फिर तब से शहर ही का हो रहा। इससे मेरे गाँव और उसके आस-पास के लोगों से मेरी जान-पहचान बहुत कम है।

मेरे चचेरे भाई का विवाह था। बरात एक दूसरे गाँव में गई थी। मैं भी बरात में था। ब्राह्मणों की बरात में हल्ला-गुल्ला और बदइन्तजामी का तो कहना ही क्या? थोड़े से लोग जो वर के सम्बन्धी होते हैं, उनकी तो कुछ पूछताँछ हो जाती है; बाकी दूसरे बरातियों को तो दोपहर का खाना शाम को और शाम का खाना रात के चार बजे तक मिल जाय तो भगवान् की बड़ी कृपा समझनी चाहिए।

विवाह के दूसरे दिन दोपहर के दो बजे होंगे, मैं जनवासे से उठकर किसी काम से बाहर निकला तो एक गरीब को नीम के पेड़ के नीचे उदास-मुंह बैठे हुए देखकर मैं उसके पास ठहर गया। मैंने चलते-चलते यों ही अकारण ही पूछ लिया—क्यों जी, सुस्त क्यों बैठे हो?

उसने बहुत गिरी हुई आवाज में कहा—सबेरे से अभी तक पानी भी नहीं पिया।

मैंने कहा—क्या कुछ खाने को नहीं मिला?

उसने कहा—चबेना बँटा था, मेरे पहुँचते-पहुँचते वह चुक गया। बाँटनेवाले महाराज मुझे देने के लिए घर के भीतर गये, फिर लौटे ही नहीं। भूख बहुत लगी है, मुझसे बोला नहीं जाता।

मेरे साथ एक नाई गया था। वह मेरी जरूरत के लिए सत्तू, चबेना और गुड़ और रसोई का सामान अलग बाँध कर रक्खे हुए था। मैंने लौटकर नाई को कहा कि वह खाने भर का पूरा सामान उस आदमी को दे दे।

नाई ने उसे उत्तू और गुड़ दिया, जिसे वह मर-भुक्खे की तरह जल्दी-जल्दी सानकर खा गया। फिर शाम के लिए उसे आटा-दाल भी मैंने दिला दिया, ताकि उसे फिर किसी महाराज की राह न देखनी पड़े।

यह एक साधारण-सी बात थी। मैंने अच्छी तरह उस आदमी को पहचाना भी नहीं, और उसे गुड़-सत्तू और आटा-दाल दिलाने की बात तो भूल ही गया।

इसके कई वर्ष बाद मेरे भाई की लड़की की शादी पड़ी। बरात आई और घर में हल्ला-गुल्ला शुरू हुआ। रात भर विवाह की धूमधाम रही। खाना-पीना, दौड़-धूप, यह लाओ, वह लाओ चलता रहा। एक आदमी को, जो पचास वर्ष से अधिक उम्र का निहायत बदसूरत, दुबला-पतला, काला और लम्बा था, शाम ही से कुएँ से पानी भर-भरकर दौड़कर देते हुए मैंने देखा। दूसरे दिन बड़े सबेरे से फिर वही आदमी कुएँ पर मौजूद; और बालटी और गगरे भर-भरकर ढो रहा था। मैंने देखा कि जितने

आदमी काम-काज में लगे थे, सबसे अधिक मेहनत वही कर रहा था।

ग्यारह बजे के लगभग पानी का काम कुछ ढीला पड़ा, तब मैंने देखा कि वह आदमी घर के बाहर एकान्त जगह में उदास मुंह बैठा है। मैं किसी काम से उसके पास से जा रहा था। मैंने यों ही पूछ लिया—कुछ खाया-पिया है ?

उसने कहा—नहीं।

मैंने पूछा—खाने में अभी तो कुछ देर है, तुमने कुछ पानी भी नहीं पिया ? उसने कहा—नहीं।

मेरी उत्सुकता बढ़ी। मैंने फिर पूछा—रात में खाना खाया था ?

उसने कहा—नहीं।

मैंने पूछा—क्यों ? सब लोग जब खाने उठे तो तुम क्यों नहीं उठे ?

उसने कहा—किसी ने कहा नहीं।

मैंने पूछा—तुम कौन हो ? किसने तुमको काम में लगाया है ?

मैंने समझा, इसको मेरे घर के किसी आदमी ने काम-काज के लिए बुला लिया है, और उसकी लापरवाही से इसे रात में खाना भी नहीं मिला है।

उसने कहा—मुझे किसी ने काम में नहीं लगाया, मैं अपनी खुशी से काम कर रहा हूँ।

अब मेरा कौतूहल और बढ़ा। क्योंकि गाँव-वालों में अपनी खुशी से काम में हाथ बँटाने की आदत ही कम होती है। और खासकर मजदूर श्रेणी के लोगों में; क्योंकि वे मजदूरी पर बुलाये जाने ही पर आते हैं। मेरे लिए तो यह पहला ही मौका था, जब मैंने एक मजदूर-जैसे आदमी को बिना बुलाये, अपनी खुशी से पराये घर में रात और दिन काम में जुता हुआ देखा। इससे उसकी ओर मैं और भी आकर्षित हुआ और जाँच करने लगा—तुम अपनी खुशी से काम कर रहे हो तो अपनी खुशी से सबके साथ खाने भी क्यों नहीं बैठ गये ?

उसने कहा—बिना जान-पहचान का आदमी समझकर कोई उठा देता तो?

मैंने पूछा—सबेरे सबको लाई-चने और गुड़ बँटे, तुमने क्यों नहीं लिया?

उसने कहा—मुझे किसी ने दिया ही नहीं। संकोच के मारे मैंने माँगा नहीं।

गरीब और खाना लेने और माँगने में संकोच; अनहोनी-सी बात। मैं जिस काम से जा रहा था, उसे तो भूल गया और उसी की उलझन में फँस गया। मैंने पूछा—आखिर तुम हो कौन? और अपनी खुशी से काम में क्यों लगे हो?

अब उसने खुलासा कहा—भइया, आपने कई बरस हुए, रामवरन (मेरे चचेरे भाई) की बरात में जब मैं बहुत भूखा बैठा था, तब पूछ कर मुझे खाने को दिलाया था, तभी मैंने मन में यह ठान लिया था कि आपके कोई काम पड़ेगा, तब मैं उसमें खुशी से आकर काम करूँगा।

मैं तो अवाक् होकर उस गरीब का मुंह ताकने लगा। इतना बड़ा हृदय इस गरीब के पास है! एक साधारण से उपकार का बदला चुकाने के लिए यह कई वर्षों से मेरे यहाँ काम पड़ने की राह देख रहा था, और आज सारी रात बिना खाये और दोपहर तक एक घूंट पानी पिये बिना इतने प्रेम से काम में जुटा है। उसका कृतज्ञता से भरा हुआ हृदय कोयले में हीरे की तरह चमकता हुआ दिखाई पड़ने लगा।

मैं सोचने लगा—यह धन में गरीब है, पर मनुष्यता में हजारों रईसों से महान् है। किसी रईस की जी-जान से सेवा कीजिए, पर वह खूबियों को तो कम, पर त्रुटियों को हजार बार याद करेगा। चचेरे भाई के बरात की पुरानी बात अब मुझे याद आई। पर इसे तो न उस दिन क्रोध था, न आज ही है। इसकी जितनी उपेक्षा की गई है और उसे इसने जितनी उदारता और लापरवाही से सहन किया है, क्या कोई जमींदार या ताल्लुक-दार भी उसे सह सकता है? मैं अनेक राजा-रईसों को जानता हूँ, और

उस वक्त सब मुझे याद आने लगे, जो किसी की साधारण-सी त्रुटि से एक न एक भयंकर परिणाम उत्पन्न कर लेने ही में अपना बड़प्पन समझते हैं। इस गरीब ने तो आज उन सबको जीत लिया।

हर्ष से मेरी आँखें भर आईं और मुझे अपनी हिन्दू-जाति पर गर्व भी अनुभव होने लगा, जिसमें एक गरीब देहाती के पास भी ऐसा अमूल्य हृदय है, जो सभ्य कहे जानेवाले समाज में दुर्लभ है।

उसका नाम गोमती था और वह जाति का मल्लाह था।